प्रकाशक—
जसवंतलाल गिरधरलाल
३०६।४ डोशीवाड़ानी पोल
अहमदाबाद

वीर संवत् २४८०
विक्रम संवत् २०२०
नेमी संवत् १५

प्राप्तिस्थान—

१ जसवंतलाल गिरधरलाल
जैन प्रकाशन मंदिर
३०६।४ डोशीवाडानी पोल
अहमदाबाद

२ सरस्वती पुस्तक भंडार
हाथी खाना, रतनपोल
अहमदाबाद

३ सोमचन्द डी० शाह
सुघोषा कार्यालय
पालीताना (सौराष्ट्र)

४ श्री जैन साहित्य मंदिर
कड़क्का चौक
अजमेर (राज०)

मूल्य १ रू० २५ न० पै०

प्रथमावृत्तिः
१००० प्रतियाँ

मुद्रक—
मानमल जैन "मार्तण्ड"
वीर पुत्र प्रिंटिंग प्रेस, कड़क्का चौक, अजमेर

प्राक्कथन

आज के युग में अन्य साहित्य की अपेक्षा कथा साहित्य म ज्यादा रुचि है, ऐसा स्पष्ट जान पड़ता है।

आज के विषम वातावरण में कई जीव कुटिल साहित्य के शिकार हो जाने अजाने उत्पथ में चले जाते हैं और धर्मज्ञान एवं धर्म श्रद्धा से विमुख भी हो जाते है।

ऐसी स्थिति में सात्विक साहित्य की नितांत आवश्यकता स्वयं सिद्ध हो जाती है। इस आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए धार्मिक कथा साहित्य का प्रकाशन ही एक मात्र और सरलतम उपाय है। धार्मिक कथा साहित्य के आत्महितकर होने से पंडित पुरुषों ने इसे ही उपादेय माना है। श्री जैन् वाङ्मय विपुल कथा-साहित्य से अत्यधिक सुसमृद्ध है। आत्मा की निर्बलता बताने तथा उसकी अनन्त शक्ति का परिचय कराने वाली धर्म थाओं का जैन साहित्य में अपार भंडार है। ऐसी अगणित कथाओं में "श्री समराइच्चकहा" का अपना एक विशिष्ट स्थान है। और नव-भवात्मक वैराग्य निधि इस चरित्र के निर्माता-श्री हरिभद्रसूरिजी म० श्री जैन शासन रूप गगन के एक चमकते हुए दिव्य नक्षत्र हैं। इनका चरित्र ही अद्‌भुत एवं उन्नायक है। आप चौदह विद्याओं के ज्ञाता और चित्तौड़ के राजपुरोहित थे। मैं जिसके कथन को न समझ सकूं और जो मुझे समझा देवे,

मैं उसका शिष्य हो जाऊं, ऐसी उनकी घोर प्रतिज्ञा थी। इससे समझ में आ सकता है कि वे कितने प्रकाण्ड विद्वान् थे।

एक बार याकिनी महत्तरा नामक साध्वीजी के मुख से उन्होंने 'चक्किदुगं हरिपणगं' इत्यादि आवश्यक निर्युक्ति की गाथा सुनी। इसका अर्थ समझमें नहीं आनेसे वे उनके पास आकर पूछने लगे। साध्वी जी ने कहा समीप में हमारे गुरु महाराज विराजमान हैं, वे आपको अच्छी तरह समझावेंगे। यही हमारा आचार है कि पुरुषों को साधु महाराज ही ज्ञान उपदेशादि देवें।

यह सुन श्री हरिभद्रसूरि ने विद्याधर कुलके आचार्य श्री जिन-दत्त सूरिजी के पास जा इसका अर्थ समझा और प्रतिज्ञानुसार, उनके शिष्य बने। तथापि उन्होंने साध्वीजी के इस उपकार को कि यदि ये "चक्किदुगं" आदि न बोलते और मुझे इन आचार्य श्री के पास न भेजते" तो श्री वीतराग देव का शासन कैसे मिलता? इस उपकार को सन्मुख रख अपने आपको 'याकिनी महत्तरासूनु" घोषित किया।

श्री हरिभद्र सूरि जी के दो शिष्य हंस और परमहंस जो सब शास्त्रों में अत्यंत निपुण थे उन्हे बौद्धों ने मार डाला। क्रुद्ध हो श्री हरिभद्राचार्य ने सब बौद्ध साधुओं के नाश का संकल्प किया, किंतु बाद में उन्हें बहुत पश्चात्ताप हुआ कि ऐसा दुष्ट विचार क्यों किया? मुझे इस पाप का प्रायश्चित करना चाहिए। उन्होंने निश्चय किया कि बौद्ध साधु की संख्यानुसार १४४४

ग्रथों की मैं रचना करूंगा और जीवन भर श्रुतज्ञान की उपासना करते हुए उन्होंने १४४४ अभिनव ग्रंथ महाग्रंथों की रचना की। उसी के संदर्भ में "श्री समराइच्चकहा" नाम की प्रशम रस पूर्ण इस कथा की भी रचना हुई।

श्री हरिभद्राचार्य अतिम श्रुतधर थे। उस समय पूर्वश्रुत के कई अवशेष विद्यमान थे। उनके आधारपर ही इन्होंने पांडित्य-पूर्ण १४४४ ग्रथों की रचना की। उसमें से कितनेक ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है। फिर भी आ० श्री हरिभद्रसूरिजी द्वारा निर्मित साहित्य इतना विस्तृत और गहरा है कि उसका वांचन एव मनन करने के लिए समग्र जीवन भी पर्याप्त नहीं है।

वे श्रुतोपयोग से आयु का अंत जान कर विक्रम संवत् ५८५ में अनशन पूर्वक स्वर्ग सिधारे।

"पंचसए पणसीए विक्कमकालाओ झत्ति उत्थमिओ।
हरिभद्द सूरि सूरो भवियाणं दिसउ कल्लाण" ॥

(वि० सं० ५८५ में जल्दी ही जो अस्त हो गया, वह हरि-भद्रसूरि रूपी सूर्य भव्यजीवों का कल्याण करे।)

इन महाविभूति का व्यवस्थित परिचय लिखने बैठे तो एक नई पुस्तक का निर्माण हो जावे।

आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी की अमरकृति "सिरि समराइच्च-कहा" सं २०२० के चातुर्मास में केकडी में वॉची गई। जिसे

आत्मार्थी जावों ने आदर एवं रुचिपूर्वक सुनी। कई महानुभावों ने ऐसी इच्छा प्रकट की कि 'नो भवात्मक' सारे ग्रथ को यदि हिन्दी मे छपाया जाय तो अवश्य वड़ा उपकार होवे।'

यद्यपि गुजराती भाषा में श्री समराइच्च (समरादित्य) के अनेक संस्करण हो चुके हैं, किन्तु हिन्दी भाषी जनता में वह उपकार नहीं कर पाए। आज तक इसका हिन्दी मे कोई प्रकाशन नहीं होने से मैं लिखनेके लिए प्रेरित हुआ। यद्यपि मेरी मातृभाषा गुजराती है, फिर भी यथा बोध इस दुःसाहस के लिए परम गुरुवर पूज्यपाद आ० श्री विजयामृत सूरीश्वरजी म० की आज्ञा से प्रवृत्त हुआ।

ग्रंथ की मूलवस्तु को सामने रख कर इस चरित्र को संक्षेप से ही लिखा है और ग्रंथ गौरव के भय से कई अंतर्कथाओं को जो अद्भुत एवं वैराग्य रस भरपूर हैं, छोड़ देनी पडी हैं। सावधानी रखते हुए भी स्खलना हो सकती है। हिन्दी भाषा में लिखने का यह मेरा प्रथम प्रयास है। अत. यदि इसमें चरित्र कारक के आशय विरुद्ध, जिनाज्ञा विरुद्ध लिखने में आया हो या और कोई स्खलना हो गई हो तो उसको क्षमा पूर्वक चिरमता हू।

पौषी पूर्णिमा, सं० २०२०
आत्मवल्लभ भवन
केकड़ी (जि० अजमेर)

लि०
—मुनि विशालविजय "विराट"

निवेदन

याकिनी महत्तरा-सूनु, १४४४ ग्रंथ के प्रणेता परमशासन प्रभावक आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी की अद्भुत कृति श्री समरादित्य चरित्र का हिन्दी भाषा में संक्षिप्त चरित्र लिख पूज्य महाराज श्री ने एक अभाव को पूर्ण करने का कार्य कर, हमें इस प्रकाशन का गौरव भी दिलाया है, जिसका हमें अत्यंत आनन्द है।

प० पू० वालमुनि श्री राजशेखर विजयजी ने सावधानी पूर्वक इस गंथ के प्रुफ का संशोधन किया है, अत' हम उनके आभारी हैं।

श्री मानमलजी जैन "मार्तण्ड" ने अपने वीरपुत्र प्रेस, अजमेर में यत्न पूर्वक छापा है, तथा ग्रंथ को सुंदर बनाने में सतत् सहयोग रक्खा है, एतदर्थ हम उन्हे धन्यवाद देते हैं।

छोटे बड़े सब ही का आकर्षण करने वाली इस "श्री समरादित्य" कथा-पुस्तक को पढ़ भव्यजीव लेखक श्री के प्रयास को सफल बनाएं, यही शुभेच्छा।

—प्रकाशक

पूज्य बालमुनिराज श्री राजशेखर विजय जी म० की सत्प्रेरणा से प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में सद्‌व्यय कर श्रुतोपासना करने भाग्यशालियों की शुभ नामावलि:

१५१)	श्रीमान् दीपचन्दजी सा सोभागमलजी सा रुपावत		केकड़ी
१०१)	,,	विजयसिंहजी सा० नाहर	भीलवाड़ा
१०१)	,,	भूरालालजी सा० तांतेड़	केकड़ी
१०१)	,,	नेमीचन्दजी सा० कोठारी	केकड़ी
१०१)	,,	मांगीलालजी सा० डोंगी	केकड़ी
७१)	,,	नाथूलालजी सा० घुप्या	कादेड़ा
५१)	,,	बिरदीचन्दजी सा० तांतेड़	केकड़ी
५१)	,,	सुवालालजी नाहर हस्ते अमरचन्दजी रांका	सांगरिया
३१)	,,	राजमलजी सा० छाजेड़	सावर
२१)	,,	प्यारचन्दजी सा० तांतेड़	केकड़ी

४२१) केकड़ी श्री संघ द्वारा श्री ज्ञान द्रव्य की आय में से

अनुक्रम-शृंखला

महातपस्वी अग्निशर्मा

एक कुरूप किशोर, जिसके अग्नि शिखा की तरह पीले बाल, त्रिकोण मस्तक, छोटासा भाल, पीली और गोल आंखें, चपटी नासिका, लम्बे दांत एवं ओष्ट, टेढा गला, छोटे हाथ, मोटा पेट एवं पतले और टेढे पैर थे-शून्य अरण्यसे चला जा रहा था।

मुख पर उदासीनता और हृदय में निराशा को लिए वह निश्चित कदम से आगे बढा जा रहा था। उसकी यह अवस्था, व्यक्ति विशेष को परिहास, दया, असूया, एवं वैराग्य उत्पन्न करने वाली थी।

उसे घर छोड़े आज एक महीना हो चुका था। कायिक श्रम, मानसिक त्रास एवं अनिश्चित भविष्य के विचार से वह बहुत थका सा लग रहा था।

उसे आवश्यकता थी किसी सहारे और सहानुभूति की, किंतु जिसके पास बल नहीं, ऐश्वर्य नहीं, रूप नही और कोई भी सगाई नहीं, उसे स्नेह, सहारा और सहानुभूति कहां से मिले ?।

आगे चलकर उसने गिरिनदी के किनारे एक सुन्दर तपोवन देखा और उसके हृदय में आशा का संचार हुआ। अनेक वृक्ष, लता, लतामंडप, पुष्प, फल एवं पर्णकुटिओ से, अश्व, हरिण, रोझ आदि पशुओं तथा मोर, पपीहा कोयल, तोते, मैना आदि पक्षिओं

से, यम, नियम, आसन, पठन, पाठन, ध्यान आदि मे व्यस्त तापस एवं तापस कुमारों से यह आश्रम अनेक जीवों को आकर्षित कर रहा था। वहां का वातावरण होम-हवन की धूम्र से दिशाओं को पावन एवं सुगंधित बना रहा था।

सांसारिक द्वेष, क्लेश, संताप, पराभव आदि दोष मानो यहां प्रवेश नहीं कर पाये थे। कुछ विश्राम लेकर उस किशोर ने तपोवन में प्रवेश किया। तापसों को सादर वंदन करता हुआ वह तपोवन के मध्य में आया, जहां कुलपति आर्जवकौडिन्य अपने शिष्यों को कुछ उपदेश दे रहे थे। उनका दर्शन ही भव्य था, श्वेत और लम्बी जटा, श्वेत दाढ़ी, विशाल भालप्रदेश और करुणा सभर आंखें, मनुष्य को बरबस झुका देती थी। उसने कुलपति को दण्डवत् प्रणाम कर उनके चरणों को पकड़ लिए। कुलपति ने शुभाशीष दी। और उस विचित्र कुमार को देख आश्चर्य से पूछा।

"वत्स तू कौन है? कहां का रहने वाला है? यहां अकेला कैसे आया?

स्नेहालाप सुन वह गदगद हो उठा, उसकी आंखों में आंसू भर आये। वह बोला—

"भगवन्! मैं क्षितिप्रतिष्ठित नगर के राजपुरोहित यज्ञदत्त का एक मात्र पुत्र हूँ। इस कुरूप शरीर जनित पराभव से हारकर मैंने घर, नगर, परिवार आदि छोडे हैं और यहां अकेला चला आया हूं"।

"साफ साफ कहो वत्स"।

"प्रभु। क्षितिप्रतिष्ठित नगर के राजा पूर्णचन्द्र हैं। उनकी पटरानी देवी कुमुदिनी है। उनका एक मात्र पुत्र युवराज गुणसेन है। वह मेरी वय का ही किशोर है। वह अत्यन्त क्रीड़ाप्रिय एवं कुतूहली होने से मेरी इस कुरूपता से खुश हो मुझे नचवाता और भिन्न भिन्न रीति से क्लेश पहुँचाता था। हमारी वय के अन्य बालकों के बीच मुझे नाचना पड़ता था। इतना ही नहीं मयूरपंखका मुकुट, झाडु के चम्मर, छाजले का छत्र धारण करवाकर वह मुझे गधे पर बैठाता था। आगे फूटा हुआ ढोल बजाकर मुख्यमार्ग पर 'महाराज की जय' इस घोषणा पूर्वक घुमाता था और मेरी वय के किशोरों के साथ कोलाहल मचाकर खुश होता था। यह देख मेरे पिता यज्ञदत्त और माता सोमदेवी बहुत दुखित थे, किन्तु युवराज से मेरा पींड छुड़ाने में वे समर्थ न हो सके।

मैं गुणसेन का खिलौना बन चुका था। वह मुझे प्रतिदिन बुलवाता और नाच आदि करवाके अपना मनोरंजन करता था। इससे मेरी निराशा और उद्विग्नता प्रतिदिन बढ़ती ही गई। मैंने सोचा पूर्वभव में धर्मका और तपका आचरण नहीं किया, तब ही तो मुझे यह पराभव सहन करना पड़ रहा है। अब मैं कहीं जाकर धर्म का आश्रय लूं और तपश्चरण करूं। यह सोच मैंने नगर छोडा और एक मास तक चलने के बाद आज यहां अपने

भाग्योदय से आया हूँ। मेरी भी, यही कामना है कि मैं संसार छोड़ सन्यासी बनूं और उत्तम प्रकार के तपश्चरण द्वारा इस निरर्थक जन्म को सफल बनाऊं"।

अग्निशर्मा की बात सुनकर आचार्य बोले— "वत्स, अपने किए हुए दुष्कर्मों का ही यह फल है। यह तपोवन जगत के त्रस्त-जीवों के लिए उपद्रव रहित आश्रय स्थान है। यहां मनुष्य ही नहीं-पशु भी निर्भय हैं। संसारियों के से कोई नियम यहां नहीं होते। किए हुए दुष्कर्म का नाश, तत्त्व की गवेषणा, शांतिमय, पवित्र जीवन और पाप से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य सब छोड़ कर यहां आ बसता है। यहां का वातावरण शुद्ध एवं सन्मार्ग प्रेरक है।"

"प्रभु, अनुग्रह कीजिए, मुझमें योग्यता हो तो दीक्षा दीजिए।

"वैराग्यवान योग्य ही होते हैं वत्स! मैं तुम्हें अल्प समय में ही सन्यास दे दूंगा।"

कुछ समय पश्चात अनुकूल अवसर जानकर एक दिन पुरोहित यज्ञदत्त की अनुज्ञा से कुलपति आर्जवकौण्डिन्य ने समारोह पूर्वक अग्निशर्मा को सन्यासी बनाया। उसी दिन अग्निशर्मा ने प्रतिज्ञा की कि मैं जीवन भर मास मास के उपवास करूंगा, पारणे के दिन एक ही घर की भिक्षा ग्रहण करूंगा; जो मिलेगा उससे संतुष्ट रहूंगा तथा भिक्षा नहीं भी मिलेगी तो भी दूसरे घर में प्रवेश नहीं करूंगा और दूसरे महीने के उपवास आरंभ कर दूंगा।

अग्नि शर्मा द्वारा ली गई इस महान कठिन प्रतिज्ञा को सुन कर संपूर्ण तापसवर्ग एवं उपस्थित नर-नारी-धन्य हो, धन्य हो, बोल उठे ।

महातपस्वी अग्निशर्मा, जो अभी यौवन के प्रांगण में ही थे, अल्प समय मे ही महातपस्वी के नाम से प्रख्यात हुए । कुरूपता के अवतार तप के तेज से महातपस्वी बन गए । उनके दर्शन को लोग दूर दूर से आने लगे और अपने को कृतार्थ समझने लगे ।

महाराजा गुणसेन

काल अपनी अस्खलित गति से वहने लगा । कल का कुतूहली और के लिप्रिय युवराज आज गंभीर, गुणवान, सज्जन और समझदार युवान बन गया था । वसंत सेना नाम की सुंदर राजकन्या के साथ उसका विवाह हुआ । पुत्र को योग्य जान राजा पूर्णचन्द्र ने गुणसेन को राजा बनाया । गुणसेन राजा ने अपने राज्य को निष्कंटक एवं सुदृढ़ बनाया । और वह महाराजा बना ।

एक दिन वह अपनी पत्नी एवं परिवार सहित अपने देश के वसंतपुर नाम के नगर में आया, वहां के नरनारियों ने राजा का अच्छा सत्कार किया

एक दिन राजा अपने कुछ साथियों के साथ अश्व क्रीड़ा निमित्त उस तपोवन में आया। वहां उसने दो तापसकुमारों को देख अश्व से उतर कर उन्हें प्रणाम किया और उनका कुशल क्षेम पूछा।

और उनके साथ ही कुलपति आर्जवकौडिन्य के दर्शन को तपोवन में गया। उनके दर्शन कर प्रसन्न हुआ और 'सपरिवार मेरे महल में भोजन को पधारें एवं आतिथ्य लाभ दें' ऐसी कुल-पति से साग्रह विनंति करने लगा।

राजा का अति आग्रहभरा निमत्रण स्वीकारते हुए वे बोले—मेरा एक शिष्य मासोपवास का पारणा कर मासोपवास करता है। पारणे के दिन एक ही घर मे भिक्षा ग्रहण करता है, लाभ या अलाभ में दूसरे घर से भिक्षा ग्रहण नहीं करता, अत उस के बिना अन्य सबके लिए तेरी प्रार्थना स्वीकारता हूँ।'

'धन्य भाग्य, कृपालु, महती कृपा की, मुझे सेवा का लाभ दिया। कहाँ है वे महातपस्वी ? मैं भी उनके दर्शन से आत्मा को पवित्र करूं।'

'वह पीछे सहकारवीथिका के लता मंडप में हैं।' यह सुन राजा गुणसेन अन्य दो तपस्वियों के साथ वहां गया। रूप तो नहीं था। किन्तु अग्नि शर्मा का शरीर तप से देदीप्यमान हो रहा था। श्रद्धा पूर्वक प्रणाम कर आशीष पा राजा वहीं बैठ गया और पूछा 'भगवन। इस यौवन वय में ऐसा कठिन व्रत और

ऐसी घोर तपस्या करने का क्या निमित्त कारण है" ?

"राजन ! व्रत और तपका कारण मेरी कुरूपता और मेरा कल्याणमित्र महाराजपुत्र गुणसेन है"।

"महाराजपुत्र गुणसेन ! और वह आपका कल्याण मित्र" ?

"हां, राजन्, उसी ने मुझे धर्म की प्रेरणा दी, जो धर्म मे प्रेरणा दे, वही कल्याणमित्र कहलाता है"।

"उसने आपको कैसे धर्म की प्रेरणा दी" ? राजा के ऐसे पूछने पर अग्निशर्मा ने राजपुत्र की बालचेष्टा, केलिप्रियता आदि का वर्णन कर कहा कि यदि वह मुझे सताता नही तो मैं धर्म को कैसे पाता ?"

यह सुनते ही गुणसेनराजा को अपना बाल्यकाल एवं अग्नि शर्मा के साथ किया हुआ दुर्व्यवहार याद आया। लज्जा से मस्तक झुक गया एव आंखें भर आई। वह बोला—भगवन् आपको परिताप देने वाले इस अधम को आप कल्याणमित्र मानते हैं। यह आप अपनी महानता का ही परिचय दे रहे हैं। मैं वही अगुणसेन हूँ जिसे आप 'कल्याणमित्र' कह रहे हैं।

राजन् ! मैं ऐसी आत्मिक ऋद्धि एव तप संपत्ति पाया, यह सब तुम्हारा ही प्रताप है।"

"बस कीजिए प्रभु, मुझे लज्जित मत कीजिए। आप महान हैं। चन्द्रमा से भी कहीं अग्नि बरसती है ? अब आपका पारणा कब होगा ?"

"अभी पांच दिन बाकी हैं"।

"इस पारणे का लाभ मुझे देने की कृपा करें"।

"राजन्, कल का क्या भरोसा ? दिन न आया तो तुम्हारी भावना पूर्ण होगी"।

"अहो भाग्य"। कुछ समय पर्युपासना कर राजा महल में आया, किंतु अग्नि शर्मा के साथ किए गए दुर्व्यवहार का पश्चात्ताप उसके हृदय को जलाने लगा।

❀ ❀ ❀

अग्निशर्मा के पारणे का शुभ दिन आया। यथा समय अग्नि शर्मा ने पारणा करने हेतु वसंतपुर के राजमहल में प्रवेश किया।

उस समय राजागुणसेन को अचानक सिरमें वेदना उत्पन्न हुई। ज्यों ज्यों उपचार किए त्यों त्यों पीड़ा अधिक बढने लगी। राजपरिवार से लेकर मंत्री, दास, दासी परिजन वर्ग सब ही अपने अपने कार्य को छोड़कर राजा की चिंता एवं तत्सम्बन्धी कार्य में पड़ जाने से अग्निशर्मा पर किसीकी दृष्टि नही पड़ी। अग्नि शर्मा भी सब को अस्त व्यस्त और चिंतातुर देख राजा को व्याधिग्रस्त जान वहाँ से निकलकर वापस तपोवन में आ गए। कुलपति ने पूछा "वत्स ? क्या आज पारणा नहीं हुआ ?"

"प्रभु, राजा असह्य शिरोवेदना से पीड़ित था, सारा परिवार और परिजन चिन्तातुर थे। ऐसी स्थिति मे पारणा शक्य नहीं था, मैं लौट आया"। तपस्वीने धैर्य पूर्वक उत्तर दिया। थोड़ी देर में त्वरितगति से राजा गुणसेन आया और बोला, प्रभु ! मै वेदना में अचेतनसा हो गया था। परिजनवर्ग ने मेरी चिंता मे आपका ध्यान नहीं रक्खा। आपको क्लेश हुआ। अब मुझ पापी का क्या होगा" ?

"राजन् ! संताप न करो, मेरी कोई हानी नहीं हुई। तपो वृद्धि ही हुई।

"आप पधारो, आपको भोजन करवाने से ही मुझे संतोष होगा"।

"राजन, मेरी प्रतिज्ञा अडिग है"

निराश राजा दूसरी बार के पारणे का आग्रह कर दुखित हृदय में नगर में लौट आया।

❀ ❀ ❀

राजा गुणसेन राजसभा में तपस्वी के अद्भुत गुणो की प्रशंसा कर रहा था। आज एक महातपस्वी को मैं पारणा करवा कर कृतार्थ होऊंगा। अभी तो एक प्रहर का विलम्ब है, संपूर्ण तैयारी हो गई है"।

राजा इस तरह से बात कर ही रहा था, कि वहाँ एक गुप्त-

चर आया उसका श्वास बढ रहा था और वह बोलने में स्वस्थ नही था।

"राजन् ! अंधेर हो गया" ?

"क्या हुआ ? स्पष्ट बोलो"।

"नाथ ! मानभग राजा ने अपने प्रदेश पर आक्रमण कर दिया है और उसने गत रात्रि को सोए हुए अपने सैनिकों को हताहत कर दिया है। वह बढता ही चला आ रहा है"।

यह सुनते ही राजा की आँखें जैसे आग उगलने लगी। क्रोध से उसका सारा शरीर कांपने लगा। उसने रणभेरी बजाने की आज्ञा दी। वह आयुधशाला में सन्नद्ध होने चल दिया। रणभेरी को सुनते ही नगर में चिंता, कुतूहल और अव्यवस्था फैल गई। हाथी, अश्व और रथ जहाँ तहाँ घूमते दिखाई देने लगे। थोड़ी देर में ही सेनापति सेना को सजा कर तैयार हो गया। राजा भी रथ पर आरुढ़ हो गया। सैनिकों और अश्वादि के गमना गमन से धूल आकाश छूने लगी। कोलाहल चारों दिशाओं को बधिर कर रहा था। उस समय दो मास के उपवासी अग्निशर्मा राज-महल में आये। उत्तेजना और उग्रता का वातावरण देख वे स्तब्ध रह गए। उनके सामने देखे बिना ही लोग त्वरितगति से जहां तहां दौड रहे थे। यह देख अग्निशर्मा को लगा कि यहाँ ज्यादा ठहरने में कोई लाभ नहीं और वहां से चल दिए।

ज्योतिषी ने कहा—महाराज, युद्धार्थ प्रयाण कीजीये, मुहूर्त्त

गया है। उसी समय राजा को अग्निशर्मा की याद आई। वह बोले—मैं अभी उन महातपस्वी को पारणा करवा कर आता हूं। आप थोड़ा सा प्रयाण कर मुहूर्त्त सम्हाल लो। दण्डनायक को कह कर राजा ने महल में जाते हुए द्वारपाल को पूछा। पूछने पर पता चला कि अग्निशर्मा अभी अभी वापस लौट गए हैं। यह सुनते ही वज्राहतसा अत्यंत दुखित हो, राजा रथ पर आरूढ़ हो तपोवन की ओर चल दिया। नगर के बाहर ही तपस्वी कष्ट पूर्वक चलते दिखाई दिए। तुरन्त राजा रथ से उतर कर उनके चरणों में गिर पड़ा। प्रमाद के लिए पश्ताप करने लगा और वापस लौटने को आग्रह करने लगा। तपस्वी अग्निशर्मा ने कहा—राजन ! मेरी प्रतिज्ञा आप जानते हैं न। मैं दूसरी बार भिक्षार्थ नहीं लौटता हूँ"।

यह सुनते ही राजा की आंखो में आंसू भर आए। वह बोला 'प्रभु, अब मैं कुछ बोलने के लायक नहीं रहा। मेरे हृदय की वेदना मैं कैसे बताऊं" ?

"राजन, इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं। वापस लौटो, खेद मत करो"।

"जहां तक आपको मैं पारणा नहीं कराऊंगा वहां तक मुझे शांति कैसे मिलेगी ? और खेद भी कैसे दूर होगा" ?

"यदि ऐसा ही है तो अब की बार और तुम्हारे यहां आने का प्रयत्न करूंगा"। कह कर तपस्वी चल दिए। राजा भी वापस

लौटा। उसने दंडनायक को कहा—

"अब मुझसे युद्ध नहीं होगा। आप ही जाओ, जो होना होगा सो होगा। अभी तो मैं मानसिक वेदना से विलख रहा हूँ"।



कुलपति आर्जवकौंडिन्य

राज गुणसेन की सेना ने शत्रु को भीषण पराजय दी। वसंत पुर की प्रजा विजय का आनंद मना रही थी, किन्तु अग्निशर्मा का पारणा न होने के कारण राजा को अत्यन्त दुख हो रहा था। राजा कई बार तपोवन में जाकर मुनि की पर्युपासना करता। अपने प्रमाद के लिए पश्चाताप करता और पारणे के दिन की उत्कण्ठा पूर्वक राह देखता था। "इस बार तपस्वी की भक्ति द्वारा अपनी मलिन आत्मा को शुद्ध करूँगा" ऐसा वह अपने परिवार आदि को कहता था एवं हृदय में कामना करता था। लम्बे समय से राजा जिस दिन की राह देखता था अन्ततः वह दिन वह पारणे का शुभ दिन आया। अग्निशर्मा का शरीर अत्यन्त दुर्बल हो चुका था। उन्हें भोजन की अतीव आवश्यकता थी। मार्ग में कई जगह विश्राम लेते हुए वे राजमहल में प्रविष्ट हुए। किंतु आज का रंग कुछ और ही था।

कई श्रेष्ठि-सार्थवाह भिन्न भिन्न भेंट लेकर राजमहल में आ रहे थे। दास-दासी परिजन सुंदर कपडे पहन कर जहाँ तहाँ त्वरित चाल से जा आ रहे थे। सब के मुख पर प्रसन्नता थी। ताम्बुल आदि से सबका सत्कार हो रहा था। शहनाई आदि मंगल वाद्य बज रहे थे। गीत और नृत्य में सब मुग्ध हो रहे थे। वातावरण ही ऐसा हो रहा था कि प्रयत्नवान भी प्रमादी हो जावे। सारा राजभवन ही नहीं अपितु समस्त नगर निवासी भी आनन्द के सागर में डूबे हुए थे। किसी ने अग्निशर्मा की तरफ देखा भी नहीं! अग्निशर्मा की आंख में से क्रोधाग्नि बरसने लगी। ३ महीने की तपस्या के बाद आज भी पारणा नहीं हो सका। उनको बडा विचार आया।

राजा बालभाव से मेरा वैरी है। बालपन में इतनी कदर्थना करने पर भी अभी इसका जी नहीं भरा, जो यहां पर भी यह मुझे तीन तीन मास से भूखों मार रहा है। सचमुच यह राजा बडा धूर्त है। यह मुझे मारना चाहता है। यदि जगत में तप जप व्रत का कोई फल मिलता हो, तो मैं यही चाहता हूँ कि हर भव में मैं इस दुष्ट राजा को मारने वाला बनूं। ऐसा निदान कर वे महल से निकल तपोवन में आए और किसी से भी मिले बिना अपने लता मंडप में आकर ध्यान करने लगे। परन्तु ध्यान होवे कैसे? चित्त में तो क्रोधाग्नि भभक रही थी। अन्य तापस भी उनकी यह स्थिति देख उनसे दूर रहने लगे।

अग्निशर्मा सोचने लगे। महीने के बाद एक बार भोजन करना पड़ता है, उसीका प्रताप है कि राजा ने मुझे पराभव दिया। यदि सम्पूर्ण आहार का ही त्याग कर दूं तो मुझे कोई क्लेश नहीं पहुँचा सकता एवं पारणे हेतु मुझे किसी के घर जाने की आवश्यकता भी नहीं रहती। ऐसा सोचकर उन्होंने आजीवन उपवास (अनशन) व्रत स्वीकार कर लिया।

कुलपति को पता लगने पर वे भी आए और पारणा न होने का कारण पूछा। अग्निशर्मा ने कहा वह बालाभाव से ही मेरा वैरी है। मुझे कदर्थना देना ही जानता है। अब तो मैंने आजीवन अनशन अंगीकार कर लिया है, अब मेरी कदर्थना कोई नहीं कर सकता"।

"महानुभाव, ऐसा घोर व्रत नहीं लेना चाहिए। राजा भुलक्कड है, वह भूल गया होगा"।

"नहीं आज उसने सारे नगर में आनंद फैला रक्खा है। आज उसके कोई आपत्ति नहीं आई"।

"तो भी तुम्हे अनशन नहीं लेना चाहिए"।

नहीं, मैं अपने व्रत में दृढ हूँ। मुझे किसी प्रकार का आग्रह नहीं करें तथा उस दुष्ट राजा को यहां न आने दें, मैं उसका मुख भी देखना नहीं चाहता। अग्निशर्मा के वचन सुनकर आर्जव-कौडिन्य वहां से चल दिए। उन्होंने सोचा यह अभी क्रोधाकुल है, कुछ शांत हो जावे तब समझावेंगे।

इधर राजा को पता चला कि "वह तपस्वी आकर वापस चले गए। राजा स्वगत बोला "सर्वनाश हो गया। अब क्या होगा' ? कुछ सोचकर उन्होंने सोमदेव नामक विप्र को समझाकर तपोवन में भेजा। उसने वहाँ जाकर आर्जवकौडिन्य को बतलाया कि पटरानी ने आज पुत्र रत्न को जन्म दिया, उसी निमित्त आनन्दोल्लास में हम लोग प्रमत्त हो गए और तपस्वी की प्रतिप्रत्ति न कर सके। राजा को पुत्र मृत्यु से भी अधिक दुःख और वेदना हो रही है।

सोमदेव सहित कुलपति ने अग्निशर्मा को क्रोधावेश में हो आजीवन अनशन व्रत नहीं करने हेतु बहुत समझाया। किन्तु कुछ परिणाम नहीं निकला। निराश हो, सोमदेव वापस लौट आया और राजा को सारे समाचार कह सुनाये। राजा ने वह दिन अत्यन्त कष्ट से व्यतीत किया। दूसरे दिन स्वयं अपनी रानियों को लेकर तपोवन में आया। और कुलपति को नमस्कार कर पृथ्वी पर बैठ गया। मारे लज्जा के वह दृष्टि भी ऊंची उठा नहीं पाता था।

"राजन! अंतःपुर सहित पैदल आने का कष्ट क्यों किया —कुलपति बोले।

"प्रभु, मुझ पापी का कष्ट मत सोचिए, मुझे शीघ्र तपस्वी अग्निशर्मा के पास ले चलिए"।

"राजन ! अभी वह ध्यान में है, फिर कभी दर्शन कर

लेना"।

"नहीं, भगवन! मेरे निमित्त से अनशन लेकर वे प्राणों का अंत लावें यह कल्पना ही कितनी कष्ट प्रद है। उन तपस्वी के दर्शन कर उनसे क्षमा मांगूंगा और वे जो दण्ड देंगे सहर्ष स्वीकार करूंगा। और मुझे कुछ भी नहीं चाहिए। मैं अपराधी हूं, अपराधी को समुचित शिक्षा मिलना ही चाहिए"। राजा और रानियों की आंखों में अविरल आंसू बह रहे थे। कुलपति को दया आई और वे अग्निशर्मा के पास आये तथा उन्हें राजा की मनोव्यथा कह सुनाई। यह सुन, अग्निशर्मा अति कोपायमान हो चिल्ला उठे—

"गुरुजी, मैं नहीं चाहता कि आप इस बारे में कुछ भी बातें करें। मैंने प्रथम ही कह दिया है कि उस दुष्ट का मैं मुख भी नहीं देखना नहीं चाहता। कह दो उसे, वह चला जावे और भविष्य में कभी यहां नहीं आवे"। कुलपति उदास हो वहां से लौट आए। अग्निशर्मा के साथ अपनी बातचीत को स्पष्ट बताना उचित न समझकर कुलपति ने केवल यही कहा—

"राजन्! आज तो आप वापस लौट जावें, तपस्वी के ध्यान में विघ्न होगा"।

भगवन्! मात्र एक बार उनके दर्शन हो जाते। —राजा बोला।

"नहीं, आज आग्रह मत करो, फिर कभी आना"। कुलपति का उत्तर था।

राजा दुखित हो अनिच्छा से परिवार सहित बाहर निकला। वहाँ एक तापसकुमार ने कहा—"अग्निशर्मा आपको देखना नहीं चाहते, वे आपको जन्म जन्मान्तर का शत्रु समझते हैं। वह चाहते हैं कि आप अब यहां कभी नहीं आवें"।

यह सुन राजा गुणसेन अत्यन्त क्लेश एवं संताप युक्त हो अपने नगर में आया किन्तु उसका चित्त कहीं लग नहीं रहा था। अतमें उसने अपनी राजधानी क्षितिप्रतिष्ठित नगर को प्रयाण कर दिया। एक मास के निरन्तर प्रयाण के बाद उसने आडम्बर सहित राजधानी में प्रवेश किया। आमोद-प्रमोद के अनेक साधन होते हुए भी उसे कहीं चैन नहीं पड़ता था।



आचार्य विजयसेन

उसी दिन उस नगर में अनेक शिष्यों के सहित जैनाचार्य श्री विजयसेन सूरि पधारे। सारी प्रजा उनके दर्शनों को उलट पड़ी। यह देख राजा ने मंत्री को पूछा कि इतने नर नारी गण इतने हर्षित हो कहाँ जा रहे हैं ?" ?

"नाथ, शारीरिक एवं मानसिक अनेक क्लेशों का हरण करने वाले आचार्य देव श्रीमद् विजयसेनसूरिजी के दर्शन, वंदन एवं देशना सुनने को जा रहे हैं। आचार्य श्री मूर्तिमान धर्म है।

प्रथम यौवन वय में होते हुए भी विकार रहित हैं। गंधार जनपद के अधिपति लक्ष्मीसेन राजा के वे पुत्र हैं। महाज्ञानी और दार्शनिक है। मैं भी उनके दर्शन करके ही यहाँ आया हूँ"।

तूं धन्य है, तूने आँखों का फल पा लिया। मैं कल प्रात: काल उनके दर्शन कर उनकी देशना सुनूंगा।

दूसरे दिन राजा ने आचार्यश्री के दर्शन किए और वह प्रमुदित हो उठा, वाणी सुन मुग्ध बन गया। उपदेश पूर्ण होने पर जब सभी श्रोतागण अपने २ स्थान को चले गए, तब आचार्य श्री की चरणसेवा करता राजा हुआ वहीं बैठा रहा। आचार्यश्री का आत्मिक वैभव, गुणों की संपत्ति और दिव्य कांति राजा के हृदय में आश्चर्य, आनन्द, बहुमान और श्रद्धा उत्पन्न करने लगे। अंत में राजा ने पूछ ही लिया—

"इस वय में कैसे वैराग्य आ गया जो राजवैभव के साथ परिवार का भी मोह छोड़ कर आपने दीक्षा अंगीकार कर ली?

"राजन! संसार में वैराग्य का कारण ढूंढना नहीं पड़ता संसारी जीव को सुख कहाँ! कौन जीव यहां निर्भय है! रोग, शोक, भय, तर्जना, तिरस्कार, ताडना आदि कई क्लेश के अनिश्चित मृत्यु ही वैराग्य के लिए पर्याप्त कारण है"।

"फिर भी वैराग्य का निमित्त तो होगा ही"।

"हां है। सुनना चाहता है। सुन"।

"गंधार जनपद में गंधारपुर नगर में लक्ष्मीसेन राजा राज्य

करता था। उनके पुत्र विजयसेन युवराज की और राजपुरोहित सोमवसु के पुत्र विभावसु की परस्पर प्रगाढ मैत्रि थी। हम दोनों शरीर से भले ही भिन्न थे बाकी और हमारे में कोई भिन्नता नहीं थी। एक दिन विभावसु रोगग्रस्त हुआ, मैं हमेशा उसके पास रहता था। मुझे जराभी चैन नहीं था; अपने मित्र का दुःख मैं देख नहीं सकता था। दुर्लभ और महार्घ औषधोपचार तथा लाख लाख प्रयत्न करने पर भी वह बच नहीं सका। उसकी मृत्यु से मेरे दुख की सीमा न रही। न भूख लगती, न नींद ही आती। राजमहल में जहां मन और इन्द्रियों को रंजित करने वाले अनेक साधन सुलभथे मेरा मन वहाँ भी नहीं लगता। मेरी उदासी कम नहीं होती थी। कुछ दिनों के बाद चातुर्मास निमित्त चार मुनिराज मेरे नगर में पधारे और नगर बाहर उद्यान में ठहरे। एक दिन मैं भी उनके दर्शन को गया। हर्षित हो मैंने वंदना की और उन्होंने धर्मलाभ की उत्तम आशिष दी। उनके दर्शन से मुझे कुछ शांति मिली। मैं हमेशा उनके पास जाने लगा और धर्म सुनने लगा। धर्मसेवना और गुरुसेवना करते चार मास पूर्ण हो गए। अंतिम रात्रि को मुझे चिंता हुई कि कल तो मुनि भगवंत विहार कर जायेंगे फिर मैं किन से धर्म सुनूंगा और किनकी सेवा करूंगा? इस चिंता से मुझे निद्रा नहीं आई। सूर्योदय से बहुत पहले ही उठ कर मैं उनके दर्शन को निकल गया। नगर बाहर निकलते ही उद्यान में उजेला

देख मुझे आश्चर्य हुआ। मैं त्वरा से चला। आगे देखा, पृथ्वी पर सुगंधित जल का छीटकाव किया हुआ था, सुगंधी पुष्प जहां तहां बिखरे पडे थे। जय, जय नाद हो रहा था। आगे बढ़ने पर रत्नमय सिंहासन पर मुनिराज को बैठे देखा। देव गण उनकी स्तुति कर रहे थे। "हे प्रभु! आपका जन्म सफल हो गया। रागादि का नाश हो गया। आपने कर्म सैन्य को पराजित कर दिया। आप भवसमुद्र तैर गए। जन्म जरा मरण से आप मुक्त हो गए। आपकी जय हो, जय हो।"

मैंने सोचा निश्चय ही मुनिराज को केवलज्ञान हुआ है। इतने में कई नरनारी गण आकर उनके दर्शन और स्तुति कर योग्य स्थान पर बैठ गए और देशना सुनने लगे। देशना के बाद सब अपने अपने संशय पूछने लगे। यथार्थ उत्तर पाकर सब नि संशय हो स्वस्थान जाने लगे। मुझे भी प्रिय मित्र विभावसु की विरह वेदना सता रही थी। मैंने उसी के बारे में पूछा—

"प्रभु, कुछ महीने पहले मेरा मित्र विभावसु मृत्यु को प्राप्त हुआ है, वह मर कर कहाँ उत्पन्न हुआ होगा? तथा मैं परमार्थ को जानता हूँ और मोह शोक का परिणाम अच्छा नहीं यह समझता हू फिर भी मेरा चित्त उपशांत क्यों नहीं होता?"

केवलीभगवान बोले—"महाभाग, तेरे मित्र ने मर कर, इसी नगर के पुष्पदिन्न नामक धोबी की कुत्ती के पेट से जन्म लिया है। वह कुत्ता भूख से, रोग से और क्षुद्र जंतुओं से अत्यन्त पीडित है।

पूर्व भव में विभावसु तेरी पत्नी था, यही कारण है कि उस पर तेरा अत्यन्त अनुराग रहा।

यह सुन मैंने अपने नौकरों द्वारा वह कुत्ता मंगवाया। उसकी स्थिति दयनीय थी। क्षुधा से वह दुर्बल हो गया था। श्वांस जोरों से चल रही थी तथा क्षुद्र जंतु उसके कोमल भाग में चिपके हुए थे। यह दशा देख मैंने केवली भगवान को पूछा—

"भगवन्, यह किस कर्म का फल है"।

"राजन! जातिमदमान जनित दुष्कर्म का यह फल है"।

"इसने कैसा मद-मान किया"?

"हे महानुभाव! विभावसु अपने युवान साथियों के साथ नए वस्त्र एवं पुष्पमाला धारण कर वसंत महोत्सव निमित्त उद्यान में जा रहा था। उसके पीछे पुष्पदिन्न नामक धोबी भी अपनी मंडली सहित जा रहा था। विभावसु आदि रास्ते में टहलते, हंसी ठट्ठा करते हुए धीरे चल रहे थे। पुष्पदिन्न उनसे आगे हो जाने लगा। यह देख विभावसु बोला—

"अरे नीचे तू हम लोगों की बराबरी करने चला! ठहर यूं कहकर पुष्पदिन्न को अत्यन्त क्लेश देकर पीटा तथा वृक्ष से बांधकर वह अपने साथी सहित उद्यान में चला गया। अतीव क्रोध एवं उच्चकुल के अभिमान में डूबे उसने वहीं परभव का आयुष्य बांधा। पुष्पदिन्न को बाद में राहगिरों ने छोड़ दिया। उस कर्म वश वह मरकर उसी धोबी पुष्पदिन्न के यहां कुत्ते के

रूप में उत्पन्न हुआ है"।

हे राजन ! यह सुन कर मैंने सोचा संसार सचमुच ही बसने के योग्य नहीं है। यहां अल्प सुख और महादुःख है। ऐसे संसार को धिक्कार हो।

"आगे इसके क्या हाल होंगे"?

"यहां से मरकर गधा, नपुंसक, स्त्री, जारपध, कूबड़ा पीठसर्पी, मनुष्यादि के कई भव करके अकाल मृत्यु मरेगा। सैंकड़ों भव भवान्तरों में अनेकों दुखों को सहन करके इसी जनपद का राजा बनेगा और उसी भव में चरित्र पाल कर मोक्ष में जाएगा"।

"राजन् ! यही मेरे वैराग्य का कारण है ! यह सुन कर मैंने परिवार से बडी कठिनाई से अनुज्ञा पाई और इन्द्रदत्त नाम के आचार्य श्री के पास दीक्षा ग्रहण की"।

"अतीव उपदेशपूर्ण और सुंदर है वैराग्यका कारण। पर मुझ में सामर्थ्य नहीं है कि मैं भी श्रमण बनूं। अतः मुझे अभी गृहस्थ धर्मदेकर ही मेरा उद्धार करिए"। राजागुणसेन परमात्मा वीतराग देव प्रणीत श्रावक के १२ अणुव्रतों को अंगीकार कर, अपने घर लौटा और अपने को धन्य समझने लगा।

श्रावकोचित धर्मकरणी करता हुआ राजा गुणसेन नीतिपूर्वक राज्य का पालन करता था। विजयसेन आचार्य का उपदेश उसके कान में सदा गूंजता रहता था किन्तु अग्निशर्मा के साथ किया

हुआ दुर्व्यवहार भी उसके हृदय को सदा जलाया करता।

एक दिन राजमार्ग वाले झरोखे में राजा बैठा था। कुछ मनुष्यों का समूह वहां से रोता हुआ निकला। कुछ दूरी पर कुछ महिलाएँ भी बिलख बिलख कर रो रही थी। उनका आक्रन्दन कठोर हृदय को भी आर्द्र करता था। यह देख राजा ने सेवक से पूछा—अरे ये लोग क्यों रो रहे हैं?

"देव, नगर सेठ का इकलौता जवान बेटा मर गया है। अत परिवार एवं स्वजनवर्ग झूर झूर कर रो रहे हैं"।

यह सुनते ही राजा विचार सागर में खो गया। कैसा सुंदर रूपवान, यशस्वी और धनवान युवावस्था वाला भी अल्पायु में ही चल बसा! सच है इस जीवन का क्या ठिकाना? मेरा भी यही हाल किसी भी घड़ी हो सकता है। बिना संयम के यदि मृत्यु हो गयी तो श्री जिनेश्वर देव के शासन को प्राप्त करके इस शासन के सार को कैसे पा सकूंगा। यह सोचकर उसने पत्नि आदि को पूछ कर अपने पुत्र चन्द्रसेन का राज्य अभिषेक किया और स्वयं मुनिवेश धारण कर आचार्य विजयसेन के पास प्रयाण किया। मार्ग में रात्रि होने से कायसग्ग ध्यान में स्थिर हुए।

अग्निशर्मा मरकर विद्युतकुमार देव हुआ। दैवयोग से वह उसी मार्ग से निकला जहां गुणसेन मुनि ध्यानस्थ खड़े थे। उन्हे देखते ही उसका क्रोध भभक उठा और उसने गुणसेन मुनि पर उष्ण रेती बरसाना शुरु किया। जलते अगारे जैसी

रेती शरीर को झुलसाने लगी। असह्य वेदना को धैर्यपूर्वक गुणसेन सहने लगे। उष्णतम रेत का प्रभाव बढने लगा। गुणसेन के शरीर की चमड़ी झुलस झुलस कर जहां तहां लटकने लगी! इतनी कठोर वेदना होने पर भी गुणसेन मुनि ने अपनी आत्माको समझाया कि यह दुख तो कुछ नहीं है! इससे कई गुने ज्यादा दुख तूने सहे हैं! अनिच्छा से महादुख और क्लेश परवश हो सहे हैं! जिसका कोई फल नही मिला। इस प्रकार चित्त को समता में स्थापन कर सब जीवों को खमाया। बालपने में मैंने जिसकी कदर्थना की थी उस अग्निशर्मा को विशेष खमाया"। मैंने अपने प्रमाद से एक तपस्वी के जीवन का नाश किया और उसे अनशन करने को उद्यत्त किया इस महापाप से मैं कैसे मुक्त होऊंगा! इस प्रकार चिन्तन कर पाप का प्रायश्चित करते हुए उन्होंने अरिहत प्रभु के शासन की शरण ली। वैर का त्याग कर, जगत के जीवों के साथ प्रेम और मैत्री स्थापन की! मेरा कोई शत्रु नहीं है मुझे किसी से वैर नहीं है। ऐसी उत्तम भावना में वे जमीन पर गिरपड़े और उन पर गरम रेती का ढेर होगया! उन्होंने शुभ ध्यान से शरीर छोड़ा और प्रथम सौधर्म देवलोक में महान ऋद्धिवाले द्युति और क्रान्ति वाले देव बने।

दूसरा भव

आचार्य श्री धर्मघोष

पृथ्वी की शोभा स्वरुप जयपुर नगर में महापराक्रमी तथा गुणवान पुरुषदत्त नामक राजा राज्य करते थे। उनके शीलगुण सम्पन्न श्रीकांता नाम की एक अत्यन्त सुन्दर पटरानी थी। उसने सिंह के स्वप्न से सूचित एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम सिंहसेन रक्खा गया। कुमार सचमुच पराक्रम में सिंह के समान था तथा चतुर, विद्वान, गुणवान, एवं बहुत रूपवान भी था। उसके गुणादि से आकृष्ट हो लक्ष्मी कांत राजा की पुत्री कुसुमावली ने यह प्रण किया कि यदि मैं लग्न करूंगी तो सिंहकुमार से ही करुंगी, अन्यथा कुंवारी ही रहूंगी। अंत में दोनों के लग्न हुए और आनन्द में दोनो के दिन व्यतीत होने लगे।

एक बार अश्व क्रीड़ा करता हुआ कुमार नागदेव एक उद्यान में चला गया। वहां धर्मघोष नाम के आचार्य देव को देखे, जो कमनीय शरीर, युवावस्था, अद्भुत प्रतिभा एवं महाज्ञान के धारक थे। वे शिष्यों को गंभीर अर्थवाले आगामों का अध्ययन करा रहे थे। उन्हें देख कुमार को शुभ भाव उत्पन्न हुए। वह सोचने लगा कि इनको धन्य है जो इस युवावस्था में भी संसार से विरक्त हैं। निरन्तर परोपकार में ही रत रहते हैं। यह सोच कुमार ने अश्व से उतरकर आचार्य आदि मुनिवरों को वंदन की और उन्होंने भी

धर्म लाभ की अनुपम आशिष दी। राजकुमार ने आचार्य श्री से पूछा—

हे भगवन्! इस छोटी वय में आपने यह संसार कैसे छोड दिया?

महाभाग! मृत्यु का क्या ठिकाना न जाने कब आ धर दबाये, धर्म के लिए छोटी और बड़ी वय क्या होती है?

प्रभु, आपको यह भाव कैसे उत्पन्न हुए?

एक कुमार अवधिज्ञानी मुनिराज के चरित्र को सुनकर मुझे चारित्र के भाव उत्पन्न हुए।

तब तो निश्चय ही वह चरित्र वैराग्यभावोत्पादक होगा! वह मुझे भी सुनाने की कृपा करें, तो धन्य बन जाऊं।

लाभ का कारण जान, आचार्यदेव ने कहना प्रारम्भ किया—

यहीं निकटस्थ राजपुर नाम का नगर है, मैं वहीं का निवासी हू। एक बार अनेक श्रमणों से वेष्टित एक अवधिज्ञानी अमर गुप्त नाम के आचार्य देव का वहाँ पदार्पण हुआ। राजा और प्रजा उनके वंदन एवं प्रवचन श्रवण के लिए उद्यान में आए। प्रवचन के बाद राजा ने कहा भगवन्! आप कई जीवों के चरित्र सुनाते हैं, कृपाकर आज तो अपना ही चरित्र सुनाइए। आपने कब, कहाँ और कैसे समकित, देशविरति और श्रामण्य पाया? यह सुन आचार्य देव ने मधुर भाषा में इस प्रकार कहना प्रारम्भ

किया :—

पूर्वभव में चन्पा नगरी के सुधन्वा नामक गाथापति जो अपनी धनश्री नाम की पत्नि के साथ रहता था, मैं उनकी सोमा नाम की पुत्री था। युवान होने पर रुद्रदेव के साथ सोमा के लग्न हुए। एक वार सोमा को वालचन्द्रा नामक साध्वीजी का सुयोग मिला गुरुणीजी को देख उसे अत्यंत प्रेम उत्पन्न हुआ। वह गुरुणी जी भक्ति करती और समय मिलते ही उनके पास उपदेश सुनने जाती। वहां उसने (मेरे जीव ने) समकित और वीतराग देव का धर्म पाया। संसार से चित्त हटा और विषय में रति न रही। इस स्थिति से रुद्रदेव को सोमा पर द्वेष उत्पन्न हुआ। और उसने सोमा से कहा—

दाम्पत्य जीवन में विघ्न करने वाला धर्म छोड़।

जहाँ आत्मा का विचार नहीं वह पशु जीवन है या दाम्पत्य जीवन !

अरे पगली, ठग लिया तुझे, तेरी गुरुणी ने। प्रत्यक्ष सुख को छोड़ अदृश्य सुख की इच्छा मत कर।

विषय प्रमाद का विपाक दारुण है। धर्म से ही इच्छित पदार्थों की प्राप्ति एवं आत्म कल्याण होता है। मैं सव कुछ करुंगी किन्तु धर्म नहीं छोडूंगी। यह सुन क्रोधित हो रुद्रदेव

ने सोमा का साहचर्य छोड़ दिया। सोमा में अब उसे कोई रुचि नहीं रही थी। सोमा का जीवनही बदल गया। प्रतिपल वह धर्माराधना में ही तत्पर रहने लगी। इधर रुद्रदेव ने नागदेव सार्थवाह की पुत्री नागश्री से विवाह निश्चित किया, किन्तु वह सोमा की उपस्थिति में व्याह करने को तैयार न हुई। मायावी रुद्रदेव ने एक मटकी में विषवाला सर्प मंगवा कर रख दिया और सोमा को कहा—

इस घट में कुसुममाला पड़ी है, जरा लाना तो'। भोली सोमा को ढक्कन खोलते ही सर्प ने डस लिया।

ओ .. .. मुझे सर्प ने काटा .. ... वह चिल्लाई। रुद्रदेव भी दुःख का अभिनय कर गारुड़िक को बुलाने दौड़ गया। बहुत लोग एकत्रित हो गए। पृथ्वी पर पड़ी हुई सोमा समझ गई थी कि मृत्यु निकट है। उसने धीरज का आलंबन कर अरिहंत देव का स्मरण करते हुए प्राण छोड़े। उसने सौधर्म देवलोक में देवपना और दिव्य भोग प्राप्त किए।

रुद्रदेव भी नाग श्री के साथ भोगों को भोगता हुआ अपनी आयुपूर्ण कर प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ।

अपना अपना आयुष्य पूर्ण कर भवभ्रमण करते हुए सोमा का जीव हाथी और रुद्रदेव का जीव कपटी तोता बन एक ही जंगल में उत्पन्न हुए। वहां भी तोते की कपट कुचालो से अनेक

यातनाएं सहकर मृत्यु प्राप्त कर हाथी व्यंतर बना और कपट पटु शुक प्रथम नरक में गया।

व्यंतुर आयु पूर्ण होने पर सोमा का जीव अप्रतिहत सार्थवाह के यहां पुत्र रूप में जन्मा। वहां उसका नाम चक्रदेव रखा गया।

तोते (रुद्रदेव) का जीव नरकायु पूर्ण कर उसी नगर में सोम शर्मा पुरोहित का पुत्र बना, उसका नाम यज्ञदेव रखा गया। ऋणानुबंध के योग से चक्रदेव की सद्भावना और यज्ञदेव की कपट भावना युक्त दोनों की परस्पर मित्रता हुई। कर्म दोष से यज्ञ देवनिरंतर चक्रदेव की क्रिया, लक्ष्मी एवं प्रतिमा से हृदयमें जलता रहता था। निष्कारण ही इर्ष्या धरता हुआ वह चक्रदेव के छिद्र ढूंढने में लगारहा। एक बार उसने चंदन सार्थशाह का चांदी का वर्तन सुवर्ण मुद्रा सहित चुराया और चक्रदेव के घर चुपके से छिपा दिया तथा दूसरे दिन, अरे चंदनसार्थवाह के घर चोरी हुई, ऐसी अफवाह जहाँ तहां फैलादी।

राजा चण्ड शासन के राज्य में चोरों को प्राणांत दण्ड के सिवाय दूसरा कोई दण्ड नहीं था, अतः बहुत वर्षों के बाद हुई इस चोरी ने आतंक फैला दिया। राजपुरुषों ने बहुत खोज की पर चोर का पता नहीं चला। पांच दिन बीतने पर भी चोर का पता न चला। राजादि बड़े चिंतित थे। उस समय यज्ञदेव

ने राजा को प्रणाम कर कहा :—प्रभु ! यद्यपि मित्र के अवगुण कहना नहीं चाहिए, किन्तु परलोक विरुद्ध आचरणकारी मित्र को मित्र मानना ही अज्ञान है। अतः मैं कुछ निवेदन करने आया हूं। मेरा नाम गुप्त ही रहे तो कुछ प्रार्थना करूं।

यह सुन राजा बोले—कहो आर्य, क्या कहना चाहते हो ?

नाथ ! चक्रदेव के परिजन से मैंने सुना है कि चंदन श्रेष्ठि का द्रव्य चक्रदेव ने ही चुराया है और वह द्रव्य अपने घर में ही छिपा रक्खा है।

असंभव, चक्रदेव कभी ऐसा नहीं कर सकता। वह कुलवान एवं गुणवान है।

स्वामिन ! अज्ञान और लोभ के वशवर्ती के लिए कुछ भी असंभव नहीं है। क्या सुगंधी पुष्प में कीड़े नहीं पड़ते। फिर कुल का क्या दोष ?

पुरोहित पुत्र ! जानते हो, यदि यह आरोप झूठ निकला तो तुम्हारी क्या स्थिति होगी ?

चोर का जो दण्ड हो वह मुझे मिले।

यह सुन राजा ने यज्ञदेव को विदा कर कुछ राजपुरुषों को आज्ञापत्र देकर चक्रदेव के घर भेजा।

श्रेष्ठिपुत्र, रुष्ट न होना। हम तो राजाज्ञाकारी हैं। इस

आज्ञापत्र के अनुसार हमें तुम्हारे घर का अवलोकन करना है।

आनंद से करिए। प्रजा की रक्षा के लिए ही सब करना पड़ता है।

चक्रदेव का उत्तर सुन राजपुरुषों ने उसके घर का अवलोकन कर धान्यभण्डार में थैलों के पीछे छिपाया हुआ वह भाजन देखा। चंदन श्रेष्ठी को बुलाकर बताने पर उन्होंने कहा यह मेरा ही बर्तन है और उस पर मेरा नाम भी खुदा हुआ है।

चक्रदेव आश्चर्य चकित एवं स्तंभित रह गया। उसे समझ में नहीं आया कि ऐसा कैसे हुआ? राजपुरुषों ने और भी खोज की, और कुछ नहीं मिलने पर वे वापस लौटे और चक्रदेव को लेकर राजसभा में उपस्थित हुए। सारी नगरी में हा हा कार मच गया। राजा ने कहा—

श्रेष्ठिपुत्र! तुम्हारी कीर्ति अत्यन्त उज्ज्वल है, तुम्हारे लिए सब को हार्दिक मान है फिर। यह अघटित घटना कैसे घटी?

चक्रदेव की आँखों से आँसू बह रहे थे। दुःखित स्वर से वह बोला देव! मैं कुछ नहीं जानता। मैं निर्दोष हूं।

श्रेष्ठि पुत्र! तुम्हारे यहाँ से चोरी का प्रमाण मिला है। मेरे शासन में ऐसे अपराधी का जो कठोर दण्ड मिलती है, वह है प्राणांतदण्ड। तुम पर हमें विश्वास है; कि तुमने यह निंद्य कार्य

नहीं किया। किन्तु न्याय तो अपराध का प्रमाण मिलते ही दण्ड देना जानता है। क्या करूं ? न्याय देव के आगे मैं भी विवश हूं।

सारी सभा निस्तब्ध हो सुन रही थी। सब यही मानते थे, कि यह कुकर्म चक्रदेव ने नहीं किया। राजा आगे बोलने लगे—

अतः न्याय के देवता तुम्हें, इस राज्य की सीमा छोड़ जाने को आज्ञा करते हैं। तुम्हें कोई कदर्थना न होगी। यह कह राजा चले गए। चक्रदेव बालक की तरह फूट फूट कर रोने लगा। लोगों को भी अत्यन्त दुःख हुआ।

राजपुरुषों ने उसे राज्य सीमा से बाहर छोड़ कर कहा—अब हमारे नगर में आना तुम्हारे लिए घोर अपराध है। चक्रदेव ने सोचा, पूर्व पुरुषों की कीर्ति का, कुलधर्म का, और प्रतिष्ठा का नाश हो जाने के बाद प्राण का नाश ही एक मात्र उपाय रह जाता है। ऐसे जीवन से तो मृत्यु कहीं अधिक उत्तम है। ऐसा सोच चक्रदेव ने अपने गले में फंदा डाल मरने का निश्चय किया और लताओं का दृढ़ फंदा बनाकर बड़ के पेड़ पर चढ़ा। नगर देवता (व्यंतर) ने अपने मन्दिर समीप यह स्थिति देख राजमाता के शरीर में प्रवेश कर सही सही बात राजादि परिवार के सामने कह दी और कहा उस निर्दोष को सत्कारपूर्वक नगर प्रवेश कराओ। यह सुन राजा ने क्रोधावेश में कहा— अरे उस दुराचारी यज्ञदेव को शीघ्र पकड़ो। और स्वयं हस्तिनी पर आरूढ हो सीमापर

आया जहां चक्रदेव गले में फंदा डाल, हाथ जोड ईश्वर से प्रार्थना कर रहा था। यह देख राजा आदि जोरो से चिल्लाए साहस मत करो, साहस मत करो। किन्तु चक्रदेव दुःखाक्रांत होने से कुछ सुन नहीं पाया और वृक्ष से कूद पडा। राजहस्तिनी उसके नीचे शीघ्र लायी गई और फंदा काट चक्रदेव को झेल लिया गया। चक्रदेव को चेतना आने पर सारा वृतांत कह सुनाया। इतने में राजपुरुष यज्ञदेव को भी बांध कर वहां ले आए। क्रुद्ध हो राजा ने आदेश दिया—

इस दुष्ट की जीभ काटो और दोनों आँखें फोड कर जंगल में छोड़ दो। चक्रदेव ने राजा के चरण में गिर कर विनंति की, कि यह ऐसा नहीं है, इसे छोड़ दो, आदि बहुत आग्रह कर यज्ञदेव को चक्रदेव ने छुड़वाया। राजसम्मान से चक्रदेव को नगर प्रवेश कराया गया। इस प्रसंग से चक्रदेव को वैराग्य आया, उसने सोचा "यदि ऐसे मित्र भी ऐसा कपट वर्तन करते हैं तो इस संसार में रहने योग्य भूमि कहीं नहीं है?" यह सोच उसने अग्निभूति नाम के आचार्य के पास संयम स्वीकार कर लिया। आयु पूर्ण होने पर वे ब्रह्मलोक नामक देवलोक में उत्पन्न हुए और यज्ञदेव अनेक तिरस्कारादि को सहन कर दूसरी नरक में उत्पन्न हुआ।

चक्रदेव का जीव देवायु पूर्ण कर रत्नसागर श्रेष्ठि का चन्द्र

सार नामक पुत्र हुआ।

यज्ञदेव का जीव नरकायु पूर्णकर कुत्ता बना और मरकर पुनः दूसरी नरक में गया। अनेक भवों में भटक कर रत्नसागर की दासी के उदर से जन्म लिया। उसका नाम अनधक रक्खा गया।

बड़े होने पर फिर वैसे ही (एक की सद्भावना दूसरे की कपट युक्त) मैत्री हुई। यहाँ भी जंगल से जाते समय अनधक ने चंद्रसार को कूवे में डाल दिया और वह उसका धन ले पलायन हो गया। आगे उसको सिंह ने फाड़ खाया। अनधक वहीं मरा पड़ा रह गया और वह तीसरी नरक में उत्पन्न हुआ।

चंद्रसार को जल रहित उस कुए से किसी पथिक ने निकाला। आगे जाकर उसने अपने द्रव्य की थैली के समीप मनुष्य का हाडपिंजर देख सोचा' बेचारा अनघक द्रव्य का उपभोग करने से पूर्व ही बुरी तरह मरा। और वैराग्य वश हो उसने विजय वर्द्धनाचार्य के पास दीक्षा ली। आयुपूर्ण होने पर सातवें स्वर्ग में देव तया उत्पन्न हुआ।

देवायु पूर्ण होने पर चंद्रसार का जीव रथवीर नगर के नंदिवर्द्धन श्रेष्ठी के यहां पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ और उसका नाम आनंददेव रक्खा गया।

अनधक का जीव नरक से निकल सिंह बना, और अनेक जीवों का घात कर फिर तीसरी नरक में उत्पन्न हुआ। वहां से निकल अनेक भवों में क्लेश सहन कर उसी रथवीर नगर में सोमश्रेष्ठि के यहाँ जन्म लिया। उसका नाम धनदेव रखा गया। बड़े होने पर पूर्व भव के संस्कार से परस्पर फिर वैसी ही मैत्री हुई। धनदेव हमेशा कपटलीला करता था। भोला अनंगदेव उसके कपट को भी हितकारी समझता।

एक बार दोनो परदेश कमाने गए। वहां द्रव्य लोभ से धनदेव ने अनंगदेव को मारने की इच्छा से लड्डु में विष डाल दिया। किंतु भाग्यवश लड्डु रखने में गड़बड़ हो जाने से विष मिश्रित मोदक धनदेव के खाने में आ गये और वह मरकर चौथी नरक में उत्पन्न हुआ। इस घटना से अनंगदेव को वैराग्य आया। धन का आधा भाग धनदेव के परिवार को और आधा भाग धर्मकार्य में लगाकर उसने देवसेन आचार्य के पास दीक्षा ली। आयुपूर्ण होने पर दसवें देवलोक में समृद्धिशाली देव बना।

देवआयु पूर्णकर अनंगदेव का जीव हस्तिनापुर में हरिनंदी सार्थवाह के यहाँ जन्मा वहाँ उसका नाम वीरदेव रक्खा गया।

धनदेव का जीव नरक में से निकल सर्प बना और फिर चौथी नरक में उत्पन्न हुआ। वहां से निकल अनेक भव कर उसी हस्तिनापुर में इन्द्रश्रेष्ठी के यहां पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ,

उसका नाम द्रोणक रखा गया। बड़े होने पर पुन: अनंगदेव के साथ इसकी परस्पर पूर्ववत् मैत्री हुई। दोनों साथ ही व्यापारादि करने लगे। द्रोणक सदा अनेक प्रकार की धूर्तता करता रहता और वीरदेव से ज्यादा धनवान होना चाहता था। किन्तु हानि के सब मार्ग वीरदेव को लाभ पहुँचाने लगे। यह देख वीरदेव को मारने की इच्छा वाला द्रोणक आप ही पैर फिसलने से गिरकर मर गया और पांचवी नरक में गया।

मित्र की मृत्यु से संसार की असारता सोचकर वैराग्यवान् हो वीरदेव ने मानभंग आचार्य के पास दीक्षा स्वीकार कर ली। आयुपूर्ण होने पर वह पच्चीस सागरोपम की आयुवाला ग्रैवेयक देव बना।

वीरदेव का जीव देवायु पूर्ण कर चंपापुरी में मणिभद्र श्रेष्ठी का अमर घोष नामक पुत्र बना। उसमें बचपन से ही धर्म भावना के प्रति विशेष लक्ष्य रहता था।

द्रोणक का जीव नरक से निकल महामत्स्य बना और मरकर पुन उसी नरक में गया। बारह सागरोपम का आयुपूर्ण कर उसी चम्पापुरी में नंदावर्त श्रेष्ठि की पुत्री बना। यहां उसका नाम नंदयती रक्खा गया। कर्म सयोग से उसके लग्न अमरघोष के साथ ही हुए। अमरघोष उसे अंतः करण से प्रेम करता था। किन्तु दमयती का स्वभाव अनेक भवो से कपट करने का हो

गया था। सब चीजें स्वाधीन होते हुए भी वह चोरी आदि करती थी। वृद्ध स्त्रियों ने अमरघोष को यह सब बात कही किन्तु उसने इसे अनसुनी करदी। एक बार नंदयती की पेटी में अपनी खोई हुई कोई किमती वस्तु देख उसने कहा—

यह क्या है ? तो वह बोली मैं क्या जानूं। किसी ने शत्रु भाव से मेरी पेटी में रख दी होगी। अपने पड़ोस की स्त्रियां बहुत खराब हैं। यह सुन अमरघोष को बहुत दुःख हुआ। और दोनों के आपस में कुछ कहानी सुनी भी हो गई। इस पर नन्दयती ने अमरघोष के नाश की इच्छा से एक योगिनी से कार्मण प्रयोग कराया। इसी अनुसधान में उड़द का पुतला जमीन में गाड़ते समय नदयती को सर्प ने काटा और वह मर कर छठी नरक में उत्पन्न हुई। इस घटना से अमरघोष ने वैराग्य पा दीक्षा ली। मैं वही अमर घोष हूं।

अवधि ज्ञानी मुनि का चरित्र सुन राजा आदि सब बड़े प्रभावित हुए। बादमें राजा ने पूछा अब आप दोनों का क्या होगा ?

वे बोले—राजन उसको अनंत संसार और मुझे इसी भव में मोक्ष मिलेगा।

बहुत कृपा की नाथ, अतीव सुंदर है वैराग्य का कारण। आदि प्रशंसा कर कुमार ने श्रावक धर्म स्वीकारा। प्रमुदित हो घर आया और कुसुमावली को भी धर्म परायण बनाई।

वे दोनों निरंतर देव गुरु और धर्म की उपासना से अपने जन्म को सफल बनाने लगे।



महाराजा सिंहसेन

पुरुपदत्त राजा ने सिंहकुमार का राज्याभिषेक कर पटरानी सहित भवतारिणी भागवती दीक्षा स्वीकारी।

सिंह राजा भी धर्माधर्म की व्यवस्था करने वाले, प्रजा को आनंद उत्पन्न करने वाले एवं दीन अनाथों का उपकार करने वाले होने से राजर्षी के नाम से प्रख्यात हुए।

मुख द्वारा पेट में उतरते सर्प के दुःस्वप्न सहित कुसुमवाली ने गर्भ धारण किया। ज्यों ज्यों गर्भ बढ़ने लगा, त्यों त्यों उसे बुरी इच्छाएं उत्पन्न होने लगी और उसकी राजा के ऊपर दुर्भावना बढ़ने लगी। वह राजा से प्रेम व्यवहार करने के स्थान पर अक्सर राजा का अनादर कर बैठती थी। बाद में सखियों के कहने से या अपने आप उसे बहुत पश्चात्ताप होता। वह बालक की तरह रो पड़ती। प्राणप्रिय स्वामी से मुझे असीम प्रेम है। अब वे

आयेंगे तब उन्हे मैं अपने प्यार के समुद्र में मग्न कर दूंगी। ऐसा निश्चय करने पर भी वह राजा को देखते ही पुन. कठोर हृदय की एवं अस्वस्थ हो जाती थी।

रानी को यह पूर्ण विश्वास हो गया था कि इस गर्भ के दुष्प-प्रभाव से ही मेरी यह दुष्प्रवृत्ति हो गई है। जन्म से पहले ही यह गर्भस्थ बालक जब इस प्रकार के उपद्रव कर रहा है तो जन्म लेकर निश्चय ही यह मेरे हरे भरे सुखी जीवन मे चिनगारी लगा देगा। यह सोच उसने गर्भ नाश के अनेक उपाय भी किए, किंतु सफलता नहीं मिली।

समय पूर्ण होने पर अत्यन्त कष्ट पूवक रानी न पुत्र को जन्म दिया तथा माधविका दासी के द्वारा बालक को वन में छोड़ आने की व्यवस्था की। राजा प्रथम से ही सतर्क था। रानी एवं दासी दोनों को डांटा और बालक की सुरक्षा का पक्का प्रबंध किया। रानी बोली—

नाथ, यह जब से गर्भ में आया है, तब से ही अनिष्टकारी सिद्ध हुआ है। इसको पालना, सांप को पालने जैसा होगा। फिर आपको जैसा उचित लगे सो कीजिए। यह आपका ही अनर्थ करेगा।

देवी! स्वप्न और इंगित के आधार पर बच्चे को इस प्रकार छोड़ा नहीं जा सकता। राजा ने हंसते हुए कहा और वहाँ से

चले गए।

शिशु का नाम 'आनन्द' रक्खा गया। सिहसेन राजा की छत्र छाया में बालक बढ़ने लगा। कुमार अवस्था में ही आनन्द माता पिता का अपमान करते नहीं हिचकिचाता था। कई अव-गुणों के साथ २ उसके स्वभाव में क्रूरता भी घर कर गई थी। वह बड़ा दुर्व्यसनी और हिंसक भी बन गया था।

प्रौढ़ वयवाले राजा राज्य धुरा को छोड़ आत्म कल्याण करना चाहते थे, किंतु पुत्र की योग्यता पर उन्हें संशय होने से वे अनिच्छा से राज्य कर रहे थे। तथापि उन्होंने आनन्द को युव-राज बना दिया था।

एक बार समीपवर्ती सामंतराजा ने सिंहराजा की कुछ भूमि दबा ली। इसके प्रतिकार के लिए सिंह राजा सेना सहित गया और सीमा व्यवस्थित की। वहाँ से लौटते समय मार्ग में उन्होंने देखा कि एक काला सर्प बड़े मेंढक को निगल रहा था, उस सर्प को कुरर नाम के पक्षी ने खाना शुरु किया था और उस पक्षी को अजगर ने अपने मुंह से दबाया था। अपने प्राण संकट में होते हुए भी जीव वैर वश अन्य जीव के प्राणों के घात को नहीं छोड़ता। 'संसार को धिक्कार है। संयम ही सुखकारी है।'

ऐसी शुभ भावन भाता हुआ सिहसेन राजा अपनी राजधानी की तरफ चला।

—★—

घातकी बेटा

एक बार युवराज आनंद ने षड़यंत्र रच कर महाराजा सिंहसेन को राज्यभ्रष्ट करने की योजना बनाई। कई मंत्री, सामंत एवं अधिकारियों को प्रलोभनादिसे वश में किया।

राजा सिंहसेन ने राजधानी में आते ही आनंद के राज्याभिषेक एवं अपनी दीक्षा का मुहूर्त निकलवाया और संपूर्ण तैयारियां शिघ्रता से होने लगी।

'पिताजी को मेरी योजना का पता चल गया लगता है। अतः ये अभिषेकादिकी बातें बना रहे हैं। यह सोच उसने शीघ्र ही अपनी योजना को कार्यान्वित बनाया।

कई बार बुलाने पर भी आनंद न आया तो राजा युवराज के महल में गये। अवसर देख आनंद ने उन्हें पकड़वा कर कारावास में धकेल दिया और घोषणा करवादी कि :—

"निरंतर धर्मध्यान करने वाले राजा ने कर्तव्य पालन में अनादर किया है तथा शत्रुओं को अवसर दे सबल बनाया है, आदि कारणों से अब राज्य को युवराज सम्भालेंगे।

यह सुन प्रजा एवं प्रधान मंडली ने विरोध उठाया। कारावास में आये मंत्री मंडल से भी राजा ने यही कहा कि 'उसे राज्यारूढ़

होने दो। यूं भी मैं उसे ही राज्य सौंपने वाला था। कुछ ही दिनों में सब ठीक हो जायेगा तथा उसकी भूल का उसे स्वयं भान होगा'। राजा के वचन से ही आनन्द का राज्याभिषेक निर्विघ्न संपन्न हुआ।

राजा होते ही उसने क्रूरता एवं कठोरता से कार्य लेना शुरू किया। राजा ने भाव संयम स्वीकार कर अनशन कर लिया। बहुत प्रयत्न के बाद रानी कुसुमावलि पति से मिलने जा सकी। राजा की स्थिति देख वह फूट फूट कर रोने और मूर्च्छा पाने लगी। राजा ने कहा :—

'रानी! जिनवचन भूल गई क्या ? परिवर्तनशील संसार में सदा एकसी स्थिति संभव है ही नहीं। मैं ने भाव संयम एवं अनशन ग्रहण किया है। तुम अपना जन्म यों ही क्यों गुमाती हो ? अपनी यह पिछली अवस्था है। तुम मेरी चिंता न करो। जिनवचन पर दृढ़ विश्वास बनाये रखो और संयम से अपना भी कल्याण करो'। राजा के वचन सुन संसार की विचित्रता देख रानी ने भी गंधर्वदत्ता साध्वी के पास दीक्षा ले ली।

अनशन की बात सुन, क्रोधित हो आनंद कहने लगा :

'पिताजी! भोजन करो नहीं तो तलवार से .....'

'बेटा मैंने अनशन लिया है, अन्न नहीं खा सकता। तू

अपनी आत्मा का नाश न कर। तू मारने की धमकी देता है, किन्तु मैंने तो अपने सभी कार्य संपन्न कर लिए हैं अब मृत्यु मुझे डरावनी नहीं लगती'।

यह सुन आनंद का क्रोध और भी बढ़ा। उसने बिना सोचे ही तलवार के झटके से राजा का सिर काट डाला। 'नमो अरिहंताणं' कहते ही राजा के प्राण निकल गये।

चारों तरफ हा हा कार मच गया। प्रजा में भी गहरा असंतोष फैला। प्रजा भी क्या करे ?

शुभभाव से मरकर राजा तीसरे देवलोक में गये। और आनंद स्वच्छंद जीवन जीता हुआ अल्प समय में महारोगों से पीड़ित हो, तीव्रवेदना को सहता हुआ मरकर प्रथम नरक में गया। यही आनंद अग्नि शर्मा का जीव था। जिसने भीषण तपस्या को अपने क्रोधावेश में नष्ट कर दी थी। और सिंहसेन राजा गुणसेन का जीव था जिसने दोनों भवों में समता से ममता की थी। ❀



तृतीय भव

जालिनी और शिखी

कौशांबिनरेश अजितसिंह राजा के मंत्री इन्द्रशर्मा बडे लोक प्रिय थे। उनके शुभकरा नाम की सुन्दर पत्नि थी। उसकी कुक्षि में (अग्निशर्मा) आनन्द का जीव नरक की आयु पूर्णकर अनेक भव भ्रमण कर पुत्री रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम जालिनी रक्खा गया। युवती होने पर उसका बुद्धिसागर मंत्री के पुत्र ब्रह्मदत्त के साथ पाणिग्रहण हुआ। सांसारिक भोगभोगते हुए कुछ काल बाद जालिनी गर्भवती हुई।

(गुणसेन) सिंहसेन राजा का जीव देव आयु पूर्ण कर जालिनी के गर्भ में उत्पन्न हुआ। गर्भावस्था में जालिनी को अपने गर्भस्थ जीव पर निरंतर क्रोध और शत्रुत्व का भाव रहता था। अनेक बार उसने गर्भ गिराने का प्रयत्न भी किया किन्तु गर्भ गलित नहीं हुआ। इस बात का ब्रह्मदत्त को पता चला। उसने गर्भ को कोई हानि न हो, इस हेतु दासियों को सावधानी रखने की सूचनाएं दी एवं कठोर कार्यवाही का भय बतलाया। शुभ मुहूर्त में बालक का जन्म हुआ। उसे देखते ही जालिनी को वैर पैदा हुआ। बन्धुमती दासी को उसने बालक मारडालने या कहीं निर्जन प्रदेश में छोड़ आनेको कहा। पर वह तो ब्रह्मदत्तसे प्रथम ही संकेत पायी हुई सावधान थी। उसने ब्रह्मदत्त को बालक सौंप दिया।

ब्रह्मदत्त ने गुप्त रीति से बालक के पालन पोषण का प्रबन्ध किया। जालिनी ने 'मृतबालक जन्मा, ऐसा प्रचार किया। जालिनी के त्यक्त पुत्र का नाम ब्रह्मदत्त ने शिखी रक्खा। शिखी तेजस्वी, सुंदर, चतुर, धीर और बुद्धिमान बालक था। अल्प समय में ही उसने विद्या, शिल्प और अनेक कलाओं में समुचित प्रवीणता प्राप्त कर ली। शिखी के बड़े होने पर ब्रह्मदत्त ने उसे विधिपूर्वक अपना दत्तक (गोद) पुत्र घोषित किया।

ब्रह्मदत्त का शिखी पर अपार वात्सल्य देख, जालिनी को सदा अत्यधिक ईर्ष्या रहने लगी। गहराई से अन्वेषण करने पर उसे पता चला कि यह दत्तक पुत्र नहीं किन्तु मेरा त्यक्त पुत्र है। यह पता चलने के बाद तो उसका क्रोध और भी भयंकर हो उठा। उसने अपने पति से कहा—"इसको यहाँ से निकालो, मेरे घर में यह नहीं रह सकता"। ब्रह्मदत्त ने उसे बहुत समझाया पर वह न मानी। ब्रह्मदत्त पुत्र या पत्नी किसी को भी दुख में डालना नहीं चाहता था।

इधर समझदार शिखी को भी अपने जन्म से लेकर अब तक का संपूर्ण सही वृत्तांत ज्ञात हो चुका था। उसको गहरा आघात लगा। उसे ज्ञान हुआ कि प्रतिदिन के इस गृहक्लेश का कारण मैं ही हूँ तो उसने सोचा 'अहा जन्म से पहले ही माता ने मेरी मृत्यु चाही और आज भी वह मुझे काल स्वरूप समझती है तथा मैं माता पिता के बीच में क्लेश बढ़ाने वाला बना हुआ हूँ" ?

इस प्रकार बहुत सोच विचार कर अंतमें एक रात्रि को उसने घर छोड़ दिया और निराधार हो जंगल की राह पकड़ ली। पैदल चलते चलते प्रात काल होने तक वह एक नगर के बाहर उद्यान में पहुँचा। वहां उसने अनेक शिष्यों से युक्त महातेजस्वी महाज्ञानी और यौवन लावण्य से रमणीय शरीर वाले विजयसिंह नामक आचार्य देव को देखे। देखते ही शिखी को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। वह उनकी वंदनाकर पर्युपासना करने लगा और अपने को धन्य मानने लगा। कुछ ठहरकर उसने पूछा—

'भगवन्! सर्वांगसुन्दर और नयनाभिराम शरीर वाले आपने स्वजनवर्ग रहित ऐसी निःसंगता क्यों स्वीकार की?

'वत्स! हड्डी, मांस, रुधिर एवं मलमूत्र से परिपूर्ण इस शरीर में भी सौन्दर्य हो सकता है क्या? जहाँ केवल निष्फल प्रयत्न है और भय का विस्तार है ऐसे स्वप्न समागम तुल्य स्वजनों का क्या मोह करना?

"प्रभु! आपको यह बोध कहाँ और कैसे मिला? इस संबन्ध में कुछ विवेचन कर मुझे कृतार्थ बनावें तो बड़ी कृपा होगी। आचार्य देव ने लाभ का कारण समझ इस प्रकार कहना शुरु किया—

आचार्य विजयसिंह सूरि

लक्ष्मीनिलय नामक नगर में सागरदत्त सार्थवाह है। उनके श्रीमती नामकी पत्नी है, उनका मैं पुत्र हूँ। हमारे नगर के समीप लक्ष्मीपर्वत नामका एक रमणीय पहाड़ है। उसके चहुँ ओर सुंदर उपवन, जल प्रपात एवं लक्ष्मीदेवी का मंदिर आदि होने से वह स्थान बड़ा रमणीय एवं नन्दनवन सा आकर्षक है। एक बार मैं घूमता हुआ उस स्थान पर चला गया। वहां एक हरा भरा नारियल (श्रीफल) का वृक्ष देखा। उसका ऊपरी हिस्सा जमीन पर फैला देख मुझे बड़ा कौतुक हुआ। ऐसा दृश्य कभी नहीं देखा था, अत. मुझे बड़ा ही आश्चर्य हुआ।

इतने में अचानक मुझे प्रमोद होने लगा, मंदमंद सुगंध वायु बहने लगा, पशुपंक्षियों ने जन्मजात वैर को छोड दिया। लक्ष्मी पर्वत ने अद्भुत शोभा धारण की। सारा वन प्रदेश सर्व ऋतु के पुष्प फल से अनिर्वचनीय कमनीय बन गया। पक्षि समुदाय प्रमुदित हो मंगलमय मधुर स्वर से कूजने लगे। भ्रमरश्रेणि गुंजन करने लगी। सूर्य भी विशुद्ध और शांत प्रकाश से दशों दिशाओं को प्रकाशित करने लगा। यह देख मैं आश्चर्य में डूब गया।

इतने में मैंने जाज्वल्यमान क्रांति वाला, अनेक रत्नों से मंडित विशुद्ध सुवर्णमय धर्मचक्र को आकाश मार्ग में देखा।"

मैं आश्चर्य चकित रह गया। धर्म चक्र के बाद आकाश में अनेक देव देवी अजितदेव तीर्थपति की जय जयकार से दशों दिशाओं को गुंजायमान करने लगे और गंधोदक एवं सुगंधित पुष्पों की वृष्टि करने लगे। ससंभ्रम मैं मार्ग पर देखता हूँ तो त्रिलोकी नाथ भगवान अजितदेव सुवर्ण कमल पर पगस्थाप विहार करते चले आ रहे हैं। देवताओं द्वारा श्वेत आतपत्र (छत्र) धारण कराया हुआ था। देव दन्दुभिका मधुरनाद वातावरण को सुस्निग्ध बना रहा था। प्रभु के पीछे भामंडल दिव्य तेज से जगमगा रहा था। देवों के राजा इन्द्र चामर ढाल रहे थे। सुरासुर नरनारी समुदाय भगवान की स्तुति गा रहे थे। कालागरु प्रमुख उत्तम जाति के धूप से सारा ही भूभाग सुरभित और स्निग्ध हो उठा। भगवान के पीछे अनेक गुण भंडार श्वेतवस्त्रधारी मुनिभगवंत चले आ रहे थे। उनको देख मेरे आनंद की सीमा न रही। मैं धन्य हो गया। मैंने चिंतामणि भगवान को पाया"।

देवों ने रत्न, सुवर्ण और रौप्यमय समवसरण रचा। माहेन्द्र ध्वज, अशोकवृक्ष वैडूर्यादिरत्न निर्मित महासिंहासन आदि का वर्णन करना हमारे सामर्थ्य से परे है। भगवान समव सरणमें प्रविष्ट हो सिंहासन पर विराजे। अहा! क्या प्रभु की शोभा? क्या ऋद्धि? ऐश्वर्य भी निःसीम और त्याग भी निरवधि"।।।

सजलमेघसी गंभीरवाणी से प्रभु ने अमृतोपम धर्मोपदेश

फरमाया। जगत की क्षणभंगुरता समझाई तथा धर्म में किंचित मात्र भी प्रमाद न करने की हितशिक्षा दी। उपदेश सुन मैं मुग्ध हो उठा।

नारियल (श्री फल) के वृक्ष का कौतुक तो अभी भी मुझे याद आता था। अतः त्रिलोकीनाथ भगवान को मैंने पूछा—

भगवन! उस श्रीफल के वृक्ष की ऊपरी शाखा पृथ्वी पर कैसे छा गई? क्या उसके नीचे धन या निधान है?

प्रभु बोले—लोभ दोष से ऐसा हुआ है। उसके नीचे सात लक्षसुवर्ण मुद्रा से भरी हुई चरी है। उसको तूने तथा उस नालिकेर के जीव ने वहां स्थापित की है"।

"भगवन! यह कैसे? मेरी उसकी स्थिति में बड़ा अंतर है।

भगवान बोले— सुन,



लोभ की दारुणता

अमरपुर में अमरदेव नामक गृहस्थ था, उसके सुन्दरी नामक पत्नी थी। तू और इस नारियल के वृक्ष का जीव दोनों उस

समय उनके बेटे थे। गुणचन्द्र और बालचन्द्र तुम्हारे नाम थे। युवावस्था में तुम दोनों अनेक पदार्थों के बड़े व्यापारी बने और अनेकों प्रदेशों में घूमते २ यहां आए। व्यापार किया और व्यापार द्वारा अच्छा द्रव्योपार्जन किया।

उन्हीं दिनों विजयवर्म राजा ने लक्ष्मी निलय नरेश सूरतेज के प्रदेश पर आक्रमण किया। नगर के नरनारी मूल्यवान पदार्थ ले इस लक्ष्मीपर्वत पर रक्षण निमित्त चले आये। तुम दोनों भी तब यहां आये और अपने द्रव्य को यहां की पृथ्वी में गाड़ दिया। कुछ समय बीतने पर गुणचन्द्र को लोभ उत्पन्न हुआ उसने तुझे विष प्रयोग से मार डाला। तेरा जीव मर कर व्यंतर देव बना। द्रव्य को उपयोग में लेने से पूर्व ही सर्पदंश से मर कर वह भी प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ।

व्यंतरायु पालकर तू टंकणपुर में हरिनंदन और वसुमती नामक सार्थवाह दंपति के घर देवदत्त नाम से पुत्र हुआ। गुणचन्द्र भी नरक से निकल इसी वनमें सर्प बना और उस द्रव्य का स्वामी बन उसकी रक्षा करने लगा। एक बार लक्ष्मी देवता की पूजा निमित्त तू इस लक्ष्मी पर्वत की भूमि में आया। यह स्थान रम्य था और पूर्वभव में प्रिय था, इस कारण तू यहां घूमने लगा। लोभी सर्प ने तुझे पैर में काटा। तू गिरते ही मृत्यु पाया। लोगों ने सर्प को भी मारडाला। वह इसी वन में सिंह और

तू कृतंगला नगरी में शिवदेव यशोधरा का पुत्र हुआ। तेरा इन्द्रदेव नाम रक्खा गया। यावत् तू यौवन को पाया। यहां सिंह ने पूर्व भव के संस्कार से द्रव्यवाली भूमिपर स्वामित्व प्राप्त किया।

तू राजसेवा करता था। एक बार तेरे स्वामी वीरदेव राजा ने तुझे किसी आवश्यक कार्य हेतु लक्ष्मीनिलय के स्वामी राजा मानसिंह के पास भेजा। कुछ मनुष्यों को साथ ले तू यहां आया। मार्ग में अचानक सिंह ने तुझे देखा और फाड़खाया। तेरे साथियों ने उस सिंह को भी मार डाला। सिंह और तू दोनों मरकर इसी प्रदेश के श्रीस्थल नगर में यज्ञदास चांडाल के घर युगलिक रूप से एक साथ जन्मे। तेरा कालसेन और उसका चण्डसेन नाम रक्खा गया। एक दिन तुम दोनों शिकार करने इसी प्रदेश में आए। सूअर मारकर पकाया और खाने लगे। खाते खाते चण्डसेन यूं ही पृथ्वी खोदने लगा। खोदते खोदते उसने निधान की चरीका किनारा देखा वह उसे वापस धूली से ढंकने लगा, किन्तु तूने (कालसेन) ने यह सब देख लिया। तब द्रव्यलुब्ध हो उसने तुझे मार डाला। तू मर कर दूसरी नरक में गया। वह चण्डसेन द्रव्यलोभ से वहीं रहने लगा। उसको भी एक वैरी चाण्डाल ने मार डाला। द्रव्य को जरासा भी भोगे बिना वह मर कर छट्ठी नरक में अट्ठारह सागरोपम की आयुष्य वाला नारक हुआ।

नरकायु पूर्ण होने पर तू श्रीमती सन्निवेश में शालिभद्र

नाम के वणिक का पुत्र हुआ। तेरी माता का नाम नन्दिनी और तेरा नाम बालसुन्दर था। यौवनवय मे शीलदेवाचार्य के पास अप्राप्त पूर्व श्री जिनधर्म को पाया। यथाविधि श्रावक धर्मपाल आयुपूर्ण होने पर छठे देवलोक में महासमृद्धि मान तेरह सागरोपम की आयुष्यवाला देव हुआ। वहां से आयु पूर्ण होने पर हस्तिनापुर के नगरसेठ सुहस्ति की पत्नी कांति-मती के उदर से पुत्र रुप में जन्म लिया। तेरा नाम समुद्रदत्त रक्खा गया।

चण्डसेन का जीव भी नरक आयुष्य पूर्ण कर तेरी ही दासी का पुत्र हुआ और उसका नाम मगल रक्खा गया। क्रमशः दोनों युवा हुए। तूने अनंगदेवगणी के पास श्रावक धर्म स्वीकार किया और लक्ष्मी निलयवासी अचल श्रावक की पुत्री जिनमती स पाणिग्रहण किया। एक बार तू मगल को साथ ले अपनी पत्नी को लेने ससुराल गया। गांव बाहर तुम उसी स्थान पर ठहरे जहां निधान पृथ्वी में गाड़ा हुआ था। वह प्रदेश रमणीय और घनी वनस्पती से सभर था। उस भूमि पर पांसाडवृक्ष को फैला देख तू ने हंसी में कहा—"अरे मंगल, इस प्रदेश में भूमिगत धन अवश्य होना चाहिए। धन बिना यह वृक्ष ऐसा सघन फैलता नहीं।

वह बोला—खोदकर देखें।

तूने कहा—"नहीं नहीं मैंने तो कौतुक से ही ऐसा कहा था।

वह बोला—मुझे भी कौतुक हो रहा है, मैं तो खोदकर देखूंगा। ऐसा कह उसने वहां की भूमि खोदना शुरु किया। द्रव्यकलश का किनारा देख उसने सोचा अहो यह महानिधान है, और धूल मे ढकने लगा किंतु तूने देख ही लिया और कहा—

"मंगल, चलो चलें, यह महा अनर्थ का कारण है, अत किसी को कहना नहीं।

तेरे ऐसे कहनेपर मंगल ने अपने मन में सोचा कि श्रेष्ठि पुत्र अकेला ही साराधन हड़पना चाहता है। किन्तु मैं भी मंगल हूं। इसको मारकर सारे द्रव्य को मैं अपने स्वाधीन करूंगा।

दोनों आगे चले। नगर बाहर उद्यान में तू ठहर गया और मंगल को ससुराल सूचना देने हेतु भेजा। किन्तु मंगल ने सोचा यह यहां ठहर कर कभी भी द्रव्य निकाल लेगा। मुझे अवसर ही नहीं मिलेगा अत कुछ उपाय सोच वह कुछ देर में वापस लौटकर कहने लगा—

श्रेष्ठिपुत्र तुम्हारी पत्नी किसी पुरुष के साथ भाग गयी है, क्योंकि त्रियाचरित्र का पता लगाना कठिन होता है। उसके माता पिता भी बहुत उद्विग्न हैं। अपना आगमन जान वे और ज्यादा

लज्जित होंगे, फिर जैसा आप ठीक समझें।

यह सुन तुझे गहरा आघात लगा। तूने सोचा, श्रावक कुलोत्पन्ना और श्री जिनवचन के सार को जानने वाली होकर भी उसने ऐसा कार्य कैसा किया ? मोह क्या नहीं करवाता ? स्नेहका परिणाम ही ऐसा होता है।

" मंगल, तुम घर जाओ, मैं आचार्य श्री अनंग देव की शरण लूंगा"।

मंगल ने सोचा—यह तो महाधूर्त निकला। मुझे यहीं से विदा कर सब माल हथियाना चाहता है। वह बोला—

श्रेष्ठि पुत्र, मैं आपको अकेले कैसे छोड़ सकता हूं ? ऐसा कह वह तेरे साथ ही रहा। दोनों घोर जंगल से जा रहे थे। दुष्ट हृदय वाले मंगल ने उसी समय तेरी पीठ में छुरी भोंक दी उसी समय सामने से अनेक मुनियों के परिवार वाले आचार्य श्री अनंगदेव विहार करते हुए पधारे। उन्हें देख मंगल भाग गया। तू कुछ समझ नहीं पाया कि क्या हुआ। पृथ्वी पर पड़े हुए तूने अपनी पीठ में से छुरी निकाली। तूने सोचा—

अरे यह तो मंगल की है, किसी चोर आदि की नहीं। उसीने मुझे मारने की चेष्टा की है। सच है वह द्रव्य के लोभ से मेरा घात चाहता है। हो सकता है जिनमती के बारे में भी वह झूठ बोला हो। इतने में आचार्य...

आ गया। तूने मुनि मंडल को सविधि वंदन कर आचार्यदेव को यह सब वृत्तांत कह सुनाया। गुरुओं ने तुझे कहा भद्र! संसार का यही स्वरुप है। संसार की स्वार्थपरता का ज्ञान प्राप्त कर तू मुनियों के साथ स्थानेश्वर नामके सन्निवेश में आया। मुनिवरों ने वहां मास कल्प तक स्थिरता की। औषधोपचार से घाव भर जाने पर तू ने सोचा—जिनमती को भी अपने साथ ले हम दोनो संसार सागर से उद्धार करने वाले संयम को स्वीकारें। किन्तु वैराग्य भाव बढ जाने पर तूने निश्चय किया कि दीक्षित होकर ही उसे उपदेश दूंगा। ऐसा सोच तूने तो दीक्षा अंगीकार कर ली। तुझे दीक्षित हुआ सुन जिनमती में भी वैराग्य भावना जागृत हुई। उसने सोचा—आर्यपुत्र ने बहुत ही अच्छा कार्य किया है। संसार क्लेश से पूर्ण है। संगम के अंत में वियोग होता है। विषय भोग का विपाक अतीव दारुण है। मनुष्य भव में जिनमत की प्राप्ति होना दुर्लभ है। उसमें भी चरित्र तो अनन्त पुण्य की राशि उदय में आवे तब ही मिलता है। ऐसा सोचकर जिनमति माता पितादि की अनुमति ले मुनि भगवंतों के पास आयी और तुझे कहने लगी—

हे भगवन्! आपने अत्यन्त उत्तम पुरुषार्थ किया, मोह का छेदन किया और महापुरुष के आचरण का अनुसरण कर अपना ही नहीं मेरा भी उद्धार किया है। अब कृपा कर मुझे भी दीक्षा प्रदान करें। इस प्रकार अत्यन्त श्लाघा कर स्वयं ने भी संयम स्वी-

कार किया।

तू निरतिचार संयम पालकर आयुपूर्ण होने पर ग्रैवेयक में पच्चीस सागरोपम की स्थिति वाला देव हुआ।

मंगल उसी निधान की भूमि में निधान ले जाने की इच्छा से रहने लगा और मांसाहार सेवन करने लगा। वह वहीं मरकर द्रव्य को पाए बिना ही छट्ठी नरक में बाईस सागरोपम की आयुष्य वाला नारक बना। वहां से राष्ट्रवर्धन नगर में बकरा बना। अन्य बकरों के साथ उसे जब जयस्थल ले जाया जा रहा था तब मार्ग में निधान भूमि देख उसे जातिस्मरण उत्पन्न हुआ। वह उसी स्थान पर रुक गया और आगे जाने को किसी भी तरह से तैयार ही नहीं हुआ। बकरों के मालिक ने खूब मार मारी पर वह आगे बढ़कर वापस उसी जगह आ जाता था। उसके स्वामी ने क्रोध में आ उसे वहीं काट डाला और वहीं भुंज कर खा डाला। वह मर कर वहीं चूहा बना और उस द्रव्य स्थान पर अधिकार पाया।

एक दिन उस निधान भूमि में एक जुआरी बैठा था, उसे देख चूहा वहीं परिभ्रमण कर चित्कार करने लगा। जुआरी ने पत्थर मारा और वह चूहा मर गया। मरकर एक दरिद्री मनुष्य के यहां उत्पन्न हुआ। वहां उसका रूद्रचण्ड नाम रक्खा गया। बचपन से ही वह स्वेच्छाचारी था, यौवन में वह अनेक कुकर्मों

को करने लगा। अनेक अपराधों के फलस्वरूप राजा ने उस वध का आदेश दिया। वह मरकर दूसरी नरक में गया। आयुष्य पूर्ण कर इसी लक्ष्मी निलय नगर में अशोक दत्त श्रेष्ठी की पत्नी शुभंकरा की कुक्षी से पुत्री रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम श्री देवी रक्खा गया। वह लड़की युवती होने पर समुद्र दत्त सार्थवाह से व्याही गयी।

ग्रैवेयक देवलोक मे आयुपूर्ण कर तू उसी श्री देवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ और तेरा सागरदत्त नाम रक्खा गया। यौवन वय में देवशर्मा आचार्य के पास प्रतिबोध पा तूने श्रावक धर्म स्वीकारा। नन्दनी नामक श्राविका के साथ तेरा पाणिग्रहण हुआ। एक बार तू पुत्र जन्म का आनन्द मनाने लक्ष्मी पर्वत के उद्यान में आया। वहां झंडा गाड़ने हेतु पृथ्वी खोदते हुए तूने उसी निधि कलश को देखा और अपनी माता को सारा वृतांत बताया। माता ने वह स्थान देखा और लाभ दोष में सारा द्रव्य ग्रहण करने की इच्छा से तुझे कहा—

"बेटा इसमें बहुत द्रव्य है, यदि राजा को पता चले ना सब ही ले जाए। अतः थोड़ा थोड़ा करके अपन ले जाएंगे"।

तू ने सरलभाव से मां की बात मानली। एक दिन द्रव्यलुब्ध माता ने तुझे विषमिश्रित आहार दिया। तू पृथ्वी पर तड़पने लगा। तेरी पत्नी नन्दिनी यह देख चिल्लाने लगी। लोग

इकट्ठे हो गए। तेरी माता भी ढोंग पूर्वक जोरों से रोने लगी। इतने में एक सिद्ध पुरुष आ गया, उसने तेरे विष को उतारा। तुझे चिंता हुई कि अनेक उपद्रव उत्पन्न करने वाला यह द्रव्य ही है। संयम ही सुखप्रद है। कहीं बिना संयम के मृत्यु न हो जाए, यह सोच तूने देवशर्मा गुरू के पास संयम स्वीकार किया। निरतिचार संयम का पालन कर आयुष्य पूर्ण होने पर तीस सागरोपम की स्थिति वाला ग्रैवेयक देव हुआ। तेरी माता उस द्रव्य को प्राप्त किए बिना ही मरकर पांचवी नरक में पंद्रह सागरोपम की आयु वाली नारकी जीव बनी। वहां से निकल तिर्यंच गति में अनेक भव कर वह श्रीफल (नारियल) वृक्ष के रूप में द्रव्य निधि पर उत्पन्न हुई। देव लोक से तू आयुपूर्ण होने पर सागरदत्त श्रेष्ठि के यहां पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। तुम दोनों का यह संबन्ध और स्थिति है।

"हे शिखीकुमार! मेरे पूर्वभवों को सुनकर मुझे अत्यन्त तीव्र वैराग्य उत्पन्न हुआ। वह निधान दीन अनाथ जीवों के लिए मैंने राजा को दिया। और विजय धर्मगणधर के पास दीक्षा ली"।

यह सुन शिखीकुमार नत मस्तक हो कहने लगा, भगवन! आप सत्य कहते हैं। संसार ऐसा ही है। आप धन्य है, आपने जन्म को सफल बना लिया। इस प्रकार वह बार बार मुनिवर की स्तुति करने लगा।

कर्म की गति

"भद्र ! संसार किसी के लिए सुख स्वरूप नहीं है। स्वजन का स्नेह मोह टूटे, ममता माया छूटे तो अपने आप वैराग्य भाव उत्पन्न हो सकता है और धर्म श्रद्धा तथा धर्म रुचि हो सकती है।

इस प्रकार शिखी को मुनि उपदेश दे रहे थे कि वहां उसके पिता ब्रह्मदत्त भी उसे खोजते २ आ पहुँचे। उन्होंने घर वापस चलने के लिए शिखी को बहुत समझाया, किन्तु शिखी ने संयम लेने की ठान ली थी। मुनिवर ने ब्रह्मदत्त को भी धर्मोपदेश दिया। शिखीकुमार ने संयम स्वीकारा। ब्रह्मदत्त भी श्रावक के बारह व्रत स्वीकार कर वापस घर लौटा। जालिनी को भी यह वृत्तांत सुनाया और शिखी मुनि की अत्यन्त प्रशंसा की। किन्तु जालिनी का पुत्र द्वेष और बढ़ा। साधु बनकर बेटे ने मुझे ज्यादा निन्दित किया ऐसा उसे लगा। ब्रह्मदत्त ज्यों ज्यों धर्म में पुरुषार्थ करने लगा त्यों त्यों उसका दाम्पत्य जीवन ज्यादा कलह पूर्ण होने लगा। किसी भी तरह वह आयु पूर्ण कर देवगत हुआ।

शिखी मुनि अब महान विद्वानों में गिने जाने लगे। उनकी प्रतिष्ठा, पांडित्य, तप, तेज और उत्तम कोटि का चरित्र जन साधारण की स्तुति का विषय बन गया। उनकी उपदेश छटा

अद्‌भुत एव वैराग्य को उत्पन्न करने वाली थी वे अनेक मुनिओं को आगम की वाँचना देते थे। उनकी कीर्ति दशोदिगंत व्याप्त हो गई थी। फिर भी जालिनी को शल्य की तरह शिखीमुनि खटकते थे।

किसी समय का त्यक्त शिखी आज महानविद्वान एवं राजाओं का भी महान पूज्य बन गया है और कौशांबि नगर के मेघवन उद्यान में धर्म देशना दे रहा है। राजा, महामात्य, सेठ, सार्थवाह से लेकर सामान्य जन भी उनकी देशना सुन मुक्त कंठ से प्रशंसा कर रहे हैं। इस सब की जलन है मात्र जालिनी को। फिर भीमुनि के सामने उसने अत्यन्त पश्चात्ताप प्रकट किया तथा रोकर कहने लगी—मैंने आपका घोर अपराध किया है, मेरी क्या गति होगी ?

मुनि शिखी बोले—आप जरा भी शोक एवं क्लेश नहीं करें, आप का मुझ पर बड़ा भारी उपकार है।

मैं लोक में निंदा की पात्र बनी, पुत्र और पति दोनों से हाथ धो बैठी, अब मेरा जगत में कोई नहीं।

कोई क्यों नहीं ? धर्म तो अपना है, धर्म की आराधना करो धर्माराधना से इहलोक और परलोक दोनों ही सुधर जावेंगें।

जालिनी ने कपट युक्त धर्म स्वीकार किया। प्रतिदिन उपदेश सुनने आने लगी और मुनिजी से आहारग्रहण करने केलिए आग्रह

करने लगी। आप मेरे यहां पधारते क्यों नहीं हो यों कह एक बार जालिनी रो पड़ी। दयालुमुनि उसके यहां भिक्षा को गए। जालिनी ने उन्हें विषमिश्रित मोदक भिक्षा में वहराया।

माता की प्रेम प्रसादी खाते ही मुनि को चक्कर आने लगे, कुछ ही देर में उन्हें पता चल गया कि जीवन यात्रा पूर्णता पर पहुँच गई है। तुरन्त अरिहन्त आदि चार शरणों का स्मरण किया। अनशन लिया और सर्वजीवों को खमाया। थोड़ी देर मे कई मुनि और श्रावकादि नर नारी का मेला लग गया। मुनि बोले—

इसमें किसी का कोई दोष नहीं है, यह मेरे कर्म का दोष है।

सब कहने लगे—जालिनी का ही दोष है। उसी ने मुनिवर को विष दिया है।

लोग बोलते रहे। मुनि समतारस में रमते हुए मृत्यु पाए और पांचवे देवलोक में (इन्द्र जैसे) सामानिक देव हुए।

जालिनी मारे डर के वहां से भाग गई। वह जहां भी गई वहां तिरस्कार ही पाया। अंतमे अकाल मृत्यु पाकर वह दूसरी नरक में गई।

इस रीति से अग्निशर्मा ने जालिनी बन शिखी बने गुणसेन के जीव का घात किया और बांधे हुए निदान द्वारा अपने भविष्य को और अंधकारमय बनाया।



चतुर्थ भव

धनदेव और धनश्री

सुशर्म नाम के सुंदर नगर में वैश्रमण नामक सुप्रसिद्ध धनाढ्य सार्थवाह श्रीदेवी नामक अपनी पत्नी के साथ रहता था। शिखी (गुणसेन) के जीव ने देवआयु पूर्ण कर शुभमुहूर्त में वैश्रमण के यहां पुत्र रूप में जन्म लिया। उसका नाम धनदेव रक्खा गया।

जालिनी (अग्निशर्मा) का जीव नरकायु पूर्ण कर उसी नगर में पूर्णभद्र सेठ की भार्या गोमती के उदर से पुत्री बन जन्मा। उसका नाम धनश्री रखा गया।

युवा होने पर धनदेव और धनश्री का आपस में विवाह हो गया और वे पति पत्नि बने। धनदेव धनश्री को प्राण से भी अधिक प्रिय समझता था। किन्तु धनश्री धनदेव को हृदय से नहीं चाहती थी। दोनों का समय अच्छी तरह बीतने लगा। धनदेव के नंदक नामक एक प्रिय मित्र था, जो धनदेव के पिता के साथ ही व्यापारादि करता हुआ रहता था।

एक दिन नंदक के साथ धनदेव घूमने निकला। वहाँ समृद्धिदत्त नामक सार्थवाह पुत्र को देखा। वह अपनी वय के मित्रों के साथ हास परिहास करता हुआ चला जा रहा था। उसके

बारे में लोग परस्पर बातचीत करते हुए कह रहे थे—

समृद्धिदत्त जैसा सुंदर है वैसा ही साहसी भी है। देश देशांतरों परिभ्रमण कर इसने विपुल द्रव्य उपार्जित किया है। यह स्व उपार्जित द्रव्य को स्वयं उपभोग करने के साथ साथ दूसरों के उपकारार्थ भी लगाना जानता है। यह बड़ा ही उदार दिल और परोपकारी है।

यह सुन धनदत्त ने अपने मित्र नंदक से कहा— इसका जीवन धन्य है, जो अपने हाथों से द्रव्योपार्जित कर परोपकार भी करता है। यह सोच वह कुछ उदास हो गया। इस पर नंदक ने कहा आपके पास भी द्रव्य की क्या कमी है ? आप भी परोपकार कर सकते हैं।

द्रव्य तो इससे कई गुना अधिक है, पर वह मेरा कमाया हुआ नहीं, मेरे पिताजी द्वारा उपार्जित है। मैं चाहता हूँ कि मैं भी देश देशांतर जाऊं और वाणिज्य द्वारा विपुल द्रव्य स्वयं उपार्जित करुं। और फिर उस स्व उपार्जित द्रव्य को परोपकारार्थ लगाऊं।

घर आकर धनदेव ने किसी भी तरह पिता को अपने को विदेश जाने देने के लिए राजी किया और परदेश में जा व्यापार करने की तैयारी प्रारम्भ की।

धनदेव के विदेश गमन की वार्ता सुन धनश्री को बहुत हर्ष

हुआ क्योंकि उन धनदेव प्यारा नहीं था। परन्तु उसकीतो नन्दक में विशेष आसक्ति थी। सीधे और भोले नन्दक को उसने अपना बना लिया था। उसने सोचा धनदेव के चले जाने के बाद मैं नंदक के साथ यथेच्छ विलास करूंगी।

किन्तु विदेश प्रयाणके दिन समीप आनेपर जब उसे पता चला कि धनदेव नन्दक को भी साथ ले जा रहा है। फिर क्या था ? वह धनदेव से ऊपरी स्नेह प्रकट करते हुए कहने लगी— मैं यहा किसके सहारे रहूँगी। तुम्हारे बिना मेरे दिन कटना कठिन हो जायेंगे। मैं यहां क्या करुंगी ? वह रोने लग गई और कहने लगी— मैं तुम्हारे वियोग में रो रो कर मर जाऊंगी

भोले धनदेव ने उसकी बात सत्य मान उसे भी साथ में चलने की अनुमति दे दी। महान सार्थ सम्मिलित हुआ और शुभ मुहूर्त में धनदेव प्रयाण के लिए तैयार हुआ। देव गुरु की पूजा भक्ति कर वह माता पिता के आशीर्वाद लेने चला।

मातापिता ने आशिषदी और कहा बेटा। पृथ्वी बहुत बड़ी है, स्वदेश और परदेश में गहरा अतर है, वियोग सुलभ और समागम दुर्लभ है, अत्यन्त कष्ठ और परिश्रम से धन प्राप्त होता है। अनेक आपत्तियाँ तुम पर आवेगी पर धीरज किसी भी सयोग में मत छोड़ना। तू गुणवान है तथापि क्षमादि गुणों

को अर्जन करने में तू सदा प्रयत्नशील रहना। सदा बुद्धि और साहस से काम लेना। देव गुरू की की उपासना में प्रमाद न करना। निरंतर कुशल समाचार देता रहना।

धनदेव बोला-- माता पिता के शुभाशिर्वचन एवं हित शिक्षाएं हृदय में धारण करते हुए आपकी प्रत्येक आज्ञा का मैं पूर्णतया पालने का प्रयत्न करुंगा। इसके पश्चात माता पिता को चरण वन्दन कर धनदेव ने अपनी पत्नी, नन्दक एव नौकर आदि के समुदाय सहित सार्थपति के स्वरुप में विदेश प्रयाण किया। दो मास में वह ताम्रलिप्ती नगरी में पहुँचा। वहां अनेक पदार्थों का क्रय विक्रय किया। जिससे उसे विपुल द्रव्य की प्राप्ति हुई किन्तु उसे विचार आया कि अब समुद्र मार्ग से द्वीपांतरों को जाना चाहिए। उसने एक बड़ा यानपात्र मोल लिया और अनेक पदार्थ एव साधनों से उसे सुसज्जन किया। एकदिन समुद्र किनारे धनदेव टहल रहा था कि अकस्मात उसने एक मनुष्य को भयभीत हो, अपनी ओर भागते हुए आते देखा। उसके पीछे कई मनुष्य पड़े थे, कुछ देर में वे सब धन देव के पास आ पहुंचे। धनदेव ने पूछा—

"क्या बात है ? यह लोग-तुम्हारे पीछे क्यों पड़े हैं"-?

"श्रेष्ठिपुत्र! उभय लोक विरुद्ध कार्य करने वाला मैं जुआरी हूँ। मैंने अपना सारा धन जुआ खेलने में नष्ट कर दिया है।

आज मैं शक्ति से ज्यादा धन हार गया हूँ! और उसे चुकाने में असमर्थ हूँ। इन लोगों को मुझे सोलह स्वर्ण मोहरें देना है। किन्तु मेरे पास कुछ भी नहीं हैं और इसीलिए ये लोग मेरे पीछे पडे हैं'।

तुम्हारा नाम क्या है ? तुम कहां के निवासी हो ?

मेरा नाम महेश्वरदत्त है, मैं कुसुमपुर निवासी रुद्रदत्त श्रेष्ठी का पुत्र हूँ।

अरे नन्दक! इन लोगों को सोलह सुवर्ण मुद्राएं देकर शीघ्र शांतकर विदा करो। यूं कहकर धनदेव ने महेश्वर को जुआरियों के फंदे से छुड़वाया तथा उसे स्नानादि करवा कर उत्तम वस्त्र पहनने को दिए। इतने पर भी महेश्वर को उदास ही रहते देख कहा धनदेव उसे समझाने लगा—

"भद्र चिंता छोड़ो, अधमजन की चेष्टा स्वरुप जुआ अच्छी वस्तु नहीं। तुम उत्तम कुल में जन्मे हो, तुम्हें कभी भी नीच लोगों की संगति में नहीं रहना चाहिए। जुआ तो सर्वनाश का कारण है अत जुए से शीघ्र मुह मोड़ लेना चाहिए। चलो भोजन करें। भोजनादि के बाद में धनदेव ने फिर कहा—महेश्वर! तुम हमारे साथ व्यापार करो। तुम्हे मैं द्रव्यादि की सहायता करूंगा"।

महेश्वर सोचने लगा—"मेरी कितनी अधमता है ? और

ये कैसा उच्चस्तरीय जीवन जीते हैं ? न मुझ में कोई गुण है न परोपकार भावना ही है। सचमुच मुझे अपना जीवन सुधार लेना चाहिए यह सोच वह बोला—

'आर्य, तुम्हारे समागम से मै धन्य हो गया हूँ। अब मैं ऐसा प्रयत्न करुंगा कि जिससे दारिद्र, अपयश व दुष्कृतों का नाश हो, यश कीर्ति का विलास हो तथा परोपकार का पारावार हो। ऐसा कह वह वहां से चला गया। आगे जाकर उसने सोचा—मृत्यु का कोई ठिकाना नहीं, मनुष्य भव की प्राप्ति अति दुलभ है। अतः मुझे इहलोक तथा परलोक दोनों सुधारने हेतु धर्म मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। यह सोच उसने अपने पिता के मित्र योगिश्वर नाम के कापालिक के पास सन्यास अंगीकार किया।

निर्दय नारी

धनदेव द्विपांतर प्रयाण की तैयारीमें संलग्न था। दूसरी ओर धनश्री ने नन्दक को अपने बाहुपाश में भकड़ते हुए कहा—

प्रिय धनदेव को मारकर अपन कहीं देशांतर चले जावें ?

वहां यथेच्छ जीवन का आनन्द लुटेंगे। समुद्र यात्रा से हमे क्या लाभ" ?

धनश्री के वचन सुन नन्दक बोला—

प्रिये, ऐसा दुष्ट विचार तुम्हारे मन मे कैसे उठा ? धनदेव कितना सुहृदय और स्नेही पुरुष है ? तुम पर और मुझ पर उसको कितना विश्वास और प्रेम है ? अपने प्रेम में वह अड़चन स्वरूप है ही नहीं तथा उसने मुझ पर कई उपकार किए हैं। अत उसके घात की बात सोचना कदापि उचित नहीं।

तो अपना यह गुप्त व्यवहार कहां तक चलेगा ? अनिच्छा से भी मुझे धनदेव की इच्छा का पालन करना पड़ता है। मैं नहीं चाहती उन्हे, तुम कितने अच्छे·· ···········इत्यादि कह उसने अपनी यह राय प्रकट की कि धनदेव को मार ही दिया जाय और इस द्रव्यादि से किसी बड़े नगर में निवास कर वाणिज्य किया जाय।

नन्दक ने कहा—आगे देख लेंगे। अभी तो अपने सभी मनोरथ विना प्रयत्न के ही फल रहे हैं, तो ऐसा घृणित कार्य क्यों किया जाय।

धनश्री ने सोचा—इस काम में यह कभी भी सहमत नहीं होगा। यह कार्य मुझे ही करना होगा। यह सोच उसने नाम

दत्ता नामक परिव्राजिका से एक बहुमूल्य औषध खरीदी। जिसके खाने से शरीर गलने लगता है और मनुष्य लम्बी वेदना के अंत में बुरी तरह मरता है।

धनदेव ने अनेक बहुमूल्य पदार्थों से प्रवहण भरा। दीन अनाथों को मुक्त हस्त से दान दिया। सागर की पूजा की। और परिवार सहित प्रवहण पर आरुढ़ हुआ। शुभ मुहूर्त में मंगल वाद्य बजते ही लंगर उठाये गये और प्रवहण पानी को चीरता हुआ चलने लगा। थोड़ी ही देर में वह समुद्र की छाती पर खेलता हुआ तीव्रगति से जल मार्ग काटने लगा। समुद्र की तरंगों में धनश्री नन्दक की प्रणय लीला भी दिन प्रतिदिन और विस्तार पाने लगी।

धनदेव का धन और यश विपुल मात्रा में बढ़ने लगा किंतु धनश्री द्वारा गुप्त रीति से शरीरगलन की औषध खिला देने के कारण वह अल्प दिनों में ही महाव्याधि में ग्रस्त होगया है। शरीर सूखने लगा। उसे भोजन की रुचि न होती। पिया हुआ पानी भी पेट में नहीं ठहरता और अंत में वह बिछौने के अधीन हो गया। धनश्री को विलास के लिए पूर्ण अवकाश मिल गया। ऊपर में वह चिन्तातुर एवं म्लान मुखवाली होने का दिखावा करती। एक दिन भोला धनदेव बोला—

नन्दक। तुम और धनश्री दोनों इतने चिन्तातुर क्योंरहते हो।

यह तो कोई मेरे पाप का ही परिणाम है। विधि के विधान को कौन जानता है। अतः तुम वाणिज्य की व्यवस्था को सम्हालो।

कुछ देर ठहर वह धनश्री से बोला—

प्रिये! यह विवाद का काल नहीं है। नन्दक को अपना ही कुटुम्बी समझना। समीप में ही महा कटाहद्वीप है। वहां उपचार करवायेंगे। यूं कह उसने दोनों को ढाढस बंधाई। यह सुन नन्दक गदगद हो गया। धनश्री भी कपट पूर्वक रोने लगी।

महाकटाह द्वीप में पहुँच कर नन्दक ने स्थान की व्यवस्था की और उत्तम वैद्यों का उपचार शुरु किया तथा व्यापार में अच्छा द्रव्य उपार्जन किया।

बहुत औषधोपचार करने पर भी जब धनदेव की स्थिति सुधरने के बदले ज्यादा बिगड़ने लगी तो नन्दक को अधिक चिन्ता होने लगी। उसने विचारा—

अब अधिक कालक्षेप करना उचित नहीं अतः शीघ्र स्वदेश ही लौटना चाहिए यह सोच उसने संपूर्ण तैयारी कर स्वदेश की ओर प्रयाण किया।

धनश्री मन में सोचती यह अभी तक क्यों नहीं मरा? यदि

यह अपने नगर में पहुँच गया तो इसे वहां मारना कठिन हो जाएगा, तथा इसके मरने या जीवित रहने पर भी मुझे तो वैधव्य ही मिलेगा। अतः उसने धनदेव को तुरन्त ही मृत्यु के घाट उतारने का निश्चय किया और उसी क्षण धनदेव को अंधकार-मय रात्रि में मौका पा समुद्र में ढकेल दिया।

कुछ देर बाद जब प्रवहण आगे निकल गया, तब हे आर्य पुत्र! मेरा सर्वनाश हो गया, हाय, अब क्या होगा? इस प्रकार चिल्लाती हुई धनश्री लुढ़क गई और जोर जोर से दिखावटी आक्रन्दन करने लगी।

कुछ देर में नन्दक और परिचारक आदि एकत्रित हो गए। शय्या में धनदेव को न देख वे सब चिंतातुर हो पूछने लगे—

"श्रेष्ठिपुत्र कहां गए? वे कुशल हैं न"?

यदि वे कुशल होते तो मुझे और क्या अकुशल होवे? वे कुल्ले करने झुके वैसे ही समुद्र में जा गिरे। अरे मैं लूट गई रे, कह कर वह और जोरों से चीखने लगी।

यह सुनते ही नन्दक ने चौतरफ उजाला करवाया और छोटी नौका द्वारा मनुष्यों को भेज खोज करवाई किन्तु कोई पता नहीं चला। नन्दक अत्यन्त उदास हो गया।

रत्नावलि

धनदेव के समुद्रमें पड़ते ही टूटे हुए प्रवहण का पटिया उसके हाथ लग लग गया। सात दिन के बाद वह किनारे जालगा। सात दिन की भूख ने और समुद्र के खारे पानी ने उसके रोग को नष्ट करदिया। अपना नया जन्म हुआ मानता हुआ वह धनश्री के बारे में सोचने लगा।

"अरे, वह स्नेह कहां गया? दोनों कुल को कलंकित करने वाला यह दुष्कार्य उसने क्यों किया? अर्थात् स्त्री के लिए अकरणीय क्या है? शास्त्रों की वाणी संपूर्ण सत्य है। पर अब चिंता करने से क्या होगा? पुरुषार्थ करना चाहिए। यह सोच कर वह उठा। कुछ दूरी पर टूटे हुए प्रवहण के पटिये से चिपके हुए किसी दासी के शव को देखा। समीप जाने पर उसकी साड़ी के अंचल में बंधी हुई रत्नावली (रत्नों का हार) देख उसने वह खोल ली और आगे चला। सामने कापालिक को आते हुए देख उसे नमस्कार किया। धनदेव को देख कापालिक बोला

"कहो श्रेष्ठिपुत्र! तुम यहां कैसे"?

"मेरा प्रवहण टूट जाने से मैं पटिए के सहारे किनारे आ लगा हूँ। आप मुझे पहचानते हैं क्या"?

"क्यों नहीं? आप मेरे उपकारी हैं। वेलाकुल में जुआरियों

के फंदे मे तुमने ही तो मुझे छुड़ाया और सौजन्य का परिचय कराया था। मैंने संन्यास स्वीकारा है, और विद्याओं की साधना के लिए मैं अभी यहाँ सागर किनारे ही रहता हूँ"।

"आप धन्य हैं। आपने अपने जीवन को सुधार लिया। मैं तो देखो, कैसा हो गया हूँ ?

"श्रेष्ठिपुत्र! ज्ञानियों ने सत्य ही कहा है कोई पदार्थ स्थिर नहीं है। तुम शोक मत करो। लो यह "पाठसिद्ध गारुड" मंत्र। इससे कैसे भी सर्प का विष होगा, उतर जाएगा। तुम्हारे स्वार्थ के साथ लोक कल्याण का कार्य भी इससे होगा"। यूं कह उसने धनदेव को पाठसिद्ध गारुडमंत्र दिया और तपोवनमें लाकर पनस नारंग आदि फल का आहार करवा प्रवहण द्वारा स्वदेश के लिए प्रयाण करवाया। अन्त में एक दिन धनदेव श्रावस्ती नगरी में पहुँचा।

उस नगर के राजा विचारधवल का भण्डार उसी रात्रि में चोरों द्वारा चुराया गया था। तथा अनुसन्धान में कई मनुष्यों को शंका पड़ने पर पकड़ा गया था। सिपाही धनदेव को भी पकड़ कर पूछने लगे तुम कहां के निवासी हो, कहां गए थे और कहां जा रहे हो, इत्यादि।

उसने कहा मैं सुशर्म नगर का निवासी हूँ, कमाने परदेश गया था और अब स्वदेश लौट रहा हूँ।

"तुम्हारे पास कोई गहना आदि है क्या ?

"जी नहीं, मेरे पास कुछ नहीं है"।

"सच कहो"।

"आपसे भी हमें कुछ छिपाना है क्या" ?

"अच्छा जा सकते हो"।

यह चला ही था कि एक बंदर ने उसका उत्तरीय वस्त्र खींचकर फाड़ डाला। वस्त्र फटते ही उसमें से चमकती हुई रत्नमाला पृथ्वी पर गिर पड़ी। राजपुरुषों ने बंदर को भगा धनदेव को मंत्री के सामने उपस्थित किया। रत्नावलि देखते ही मंत्री सोचने लगा—

"राजपुत्री को अशुभ हुआ प्रतीत होता है। अन्यथा उसकी रत्नावलि इसके पास कैसे ?

"भद्र ! यह रत्नावलि तुम्हारे पास कैसे आयी ?

"मैं महा कटाह द्वीप में वाणिज्य निमित्त गया था। वहां मैंने यह मोल ली थी। आते समय मेरा प्रवहण टूट गया। सब ही समृद्धि डूब गयी। मात्र यह रत्नमाला ही रह गई।

"तुमने कब मोल ली" ?

"एक वर्ष हुआ"।

यह सुन मंत्री सोचने लगा, तीन मास ही तो हुए हैं, यह हार राजकन्या को दिया था। दो महीने हुए हैं राजकन्या को गए और यह कहता है एक वर्ष हुआ इसे मोल लिए। असम्बद्ध बोलता है यह। यह सोच वह धनदेव को राजा के पास ले गया। अपनी पुत्री का हार पहचान कर राजा ने सोचा निःसंदेह इसने मेरी बेटी का नाश किया है या उसे लूटा है। राजा के पूछने पर भी धन ने वही उत्तर दिया। क्रोधित हो राजा ने उसे प्राणांत का दण्ड दिया। यह सुन धनदेव अत्यन्त व्याकुल हो रो उठा। राजपुरुषों ने धनदेव को बांधा और उसके आगे लम्बे बांस पर वह रत्नावलि लटका कर उसे वध स्थान को ले चले। देखो पोरजन, जो मनुष्य चोरी आदि अकार्य को करेगा, वह दण्ड भी ऐसा भीषण पाएगा,' ऐसी घोषणा पूर्वक वे लोग धनदेव को वधस्थान में ले जारहे थे। धनदेव के आगे ऊंचे बांस पर जो रत्नावलि लटका रखी थी उसके लालरत्नों को मांस समझ एक श्येनपक्षी (बाज) उस रत्नावलि को ले उड़ा। राजपुरुष पीछे पीछे दौड़े किन्तु हार हाथ नहीं लगा। धनदेव पर ज्यादा क्रोधित हो वे वधस्थान में आये और उसे चाण्डाल के अधीन कर वापस लौटे।

इतने में उपवन में क्रीडा करते हुए युवराज को एकसर्प ने काटलिया। अति उग्रविष उसी समय युवराज के शरीरमें संक्रमित हो गया। अनेक विषवैद्य और गारुड़िक आ पहुँचे किन्तु विषा-

पहार करने में कोई समर्थ न हुआ। राजा ने ढिंढोरा पिटवाया।

युवराज के विष का जो कोई अपहार करेगा, राजा उसे इच्छानुकूल पदार्थ देगा।

यहां चाण्डाल बोला— भद्र ! तुझे मारने की इच्छा तो नहीं होती; किन्तु क्या करु ? यह कुकर्म मेरे भाग्य में लिखा हुआ है। अपने इष्ट का स्मरण करले। यदि कोई अन्तिम इच्छा हो तो कह। यह नियम है कि मारने से पहले उसकी लौकिक उचित इच्छा पूर्ण की जाय।

यह सुन धनदेव बोला—इस शरीर से कोई परोपकार नहीं हुआ। यदि तुम अनुमति दो तो युवराज का विष उतारने का प्रयत्न करु"।

'सच ! तुम्हें मैं ले चलता हूँ' ऐसा कह वह आरक्षकों के साथ धनदेव को ले ढिंढोरा पीटने वालों के पास आया। धनदेव ने पटह का स्पर्श किया। सब ही राजा के समक्ष उपस्थित हुए"।

"हे भद्र !, क्या तुम मेरे पुत्र को स्वस्थ करोगे ? बड़े बड़े विषवैद्य, गारुड़िक और मंत्रवेत्ता निराश हो लौट गए हैं"।

"राजन ! मैं प्रयत्न करता हूँ। मंत्र तो महा प्रभाविक है,

किन्तु आज तक ऐसा अवसर नहीं पड़ा । कह कर धनदेव ने अचिन्त्य सामर्थ्यशाली मंत्र का स्मरण कर युवराज के मुख में जल डाला। मुख में जल पहूंचते ही युवराज के श्वासोच्छ्वास व्यवस्थित ढंग से चलने लगे। सारा राजपरिवार एवं प्रधान वर्ग उत्कंठित हो देखने लगे! दूसरी वार जल सिंचन करते ही राजकुमार स्वस्थ हो अंगड़ाई लेते हुए उठ बैठा जैसे सोकर उठा हो। उपस्थित जन समुदाय में हर्ष का पार न रहा। राजा रानी के हर्ष का तो कहना ही क्या? तीसरी वार सारे शरीर पर सींचन होते ही कुमार खड़ा हो गया। सब के आनन्द की सीमा न रही। राजा ने बहुमूल्यवान मुक्तामाला धनदेव के गले में पहना दी। रानियों ने भी अपने अलंकार उतार धनदेव के सामने ढेर कर दिया।

"अरे, अरे, राजन मुझे यह सब क्या करना है"?

"बोलो भद्र! तुम क्या चाहते हो? मुझे अपना वचन पूर्ण करने का अवसर दो"।

यदि ऐसा ही है तो उस चाण्डाल का इच्छा पूर्ण हो प्रभु! यह सुन राजा सोचने लगा' अहो, कैसी निरीहता है। ऐसा मनुष्य अकार्य नहीं कर सकता। राजा के भेजे हुए मनुष्यों ने चाण्डाल को पूछा—

राजपुत्र को जीवन देने वाले उस वैदेशिक के कहने पर

राजा तुमसे इच्छित वस्तु की याचना करने को कहते हैं, अतः तुम्हें जो चाहिए मांगलो"।

चाण्डाल बोला— वह विदेशी सचमुच ही नीच कार्य करने वाला नहीं है। मैं महाराजा से यही प्रार्थना करता हूँ कि मुझे इस पापकरणी से उगारे, और कोई अन्य कार्य देकर मुझ पर उपकार करें।

"अरें, कुछ द्रव्यादि मांग, पगले। धन होगा तो सब कार्य सिद्ध होंगे"।

नहीं, दोनों भव को बिगाड़ने वाले इस कसाई कर्म से मेरी रक्षा करो। यह सुन राजपुरुषों ने राजा को कसाई द्वारा व्यक्त इच्छा बतलाई।

राजा बोला – अहो कैसा विवेक ? कैसी निर्लोभता ?

देव। वह जन्मचाण्डाल है किन्तु कर्म चाण्डाल नहीं है।

अच्छा, यह एक लक्ष सुवर्ण मुद्राएं तथा एक हजार चाण्डाल कुटुम्ब जहां बसते हैं उस नगर की बाह्य भूमि मैं तुम्हारें द्वारा उस चाण्डाल को दिलाता हूँ। और तुम्हें अभय देता हूँ। यह सुन धन्नदेव बोला—

महाराजाधिराज की जय हो, विजय हो।

राजा बोले भद्र। तुम्हारें आचरण से ही पता चलता है

कि तुम उच्चकुल में उत्पन्न हुए हो।

दीर्घ विश्वास डालते हुए धनदेव बोला—देव! मेरा आचरण तो कुलवान के योग्य नहीं है। अर्थात् लक्ष्मी के आवास तुल्य कमल में भी कीड़े पड़ जाते हैं, वैसे मैं भी उत्तमकुल में जन्मा अवश्य हूँ किन्तु व्यवसाय नीच कुल के योग्य किया है।

राजा ने सोचा, अच्छा हुआ यह पुरुषरत्न मुझ से विनाश नही पाया। कहो, तुम जैसे कैसे अकार्यकारी हो सकते हैं? परमार्थ क्या है? तुमने रत्नावलि कहाँ से पायी? यह बात हो ही रही थी कि इतने में दौड़ती हुई प्रतिहारिने आई और कहने लगी—देव! राजपुत्री विनयवती मेघवन उद्यान में है, ऐसा उद्यान द्वार पर खड़ी सेविका कह रही है।

यह सुनते ही राजा आतुरता से उद्यान में गया।

राजपुत्री की दुर्दशा से व्याकुलता और प्राप्ति से प्रसन्नता का अनुभव करते हुए राजा ने भोजन, वस्त्र अलंकार आदि मंगवा कर पुत्री को सजाया और नगर प्रवेश करवाया।

पुत्री के स्वस्थ होने पर राजा ने पूछा—बेटी तेरी यह स्थिति कैसी हुई?

देव! यहां से प्रयाण करने के बाद प्रचण्ड आंधी ने प्रलय सा वातावरण मचाया और हमारा प्रवहण उलट गया। लकड़ी

पर लिपट महाकाष्ट मे किनारे आ लगी और दुःख पूर्वक नगरी समीप आई हूँ।

वह रत्नावलि कहां, जो जाते समय मैंने दी थी ?

जिस दिन हमारी नौका उलटी, उसी दिन मैंने आम्रलता (दासी) को दे दी थी। उसने अपने उत्तरीय वस्त्र में बांध ली थी। उसके बाद अभी तक उसका या अन्य परिजनों आदि का कोई पता ही नहीं चला।

राजा ने धनदेव को पूछा—भद्र ! सच सच कहो यह रत्नमाला तुम्हें कैसी मिली ?

देव, मेरा भी यानपात्र डूब जाने से मैं भी पटिये के सहारे समुद्र किनारे जापहुंचा। वहां मैंने एक मरी हुई स्त्री के आंचल से यह रत्नावलि बंधी पाई। देव, इसीलिए मैंने कहा था कि उत्तम कुल में उत्पन्न होकर भी पर द्रव्य हरण का अकार्य करने वाला मैं हूँ।

भद्र ! सोच मत करो, राजपुत्री तो यहां पहुँच गई है किन्तु उसकी दासी, आदि परिजन एवं द्रव्यादि का नाश हुआ है। प्राण से अधिक पुत्र को तुमने जीवित किया तथा पुत्री भी मिलगई कहो अब मैं तुम्हारा क्या प्रिय कार्य करूं ?

देव, आपके दर्शन हो गए, चाण्डाल का जीवन सुधर गया,

मेरे मनोरथ पूर्ण हो गए अब अधिक कुछ नहीं चाहिए।

राजा ने मुकुट सिवाय अन्य सब ही महामूल्यवान आभूषण धनदेव को दे दिए। धनदेव भी राजा से अंतिम विदा ले, कुछ राजपुरुषों के साथ वहां से सुशर्म नगर को चला।



चोर या परिव्राजक

गिरिस्थल नगर में प्रायः प्रति दिन चोरियां होने के कारण बड़ा आतंक छाया हुआ था। एक दिन राजमहल में भी चोरी हुई थी। राजमहल में हुई चोरी का पता लगाने हेतु चारों तरफ खोज हो रही थी तथा शंकित मनुष्यों की पकड़ धकड़ चल रही थी। संयोग वश उसी दिन धनदेव भी साथियों सहित उस नगर में पहुँचा और राज कर्मचारियों सहित उन सभी को भी जॉच घर में उपस्थित किया गया।

कहां से आये हो ? कहां जाओगे ?

हम श्रावस्ती से आए हैं, वहां के राजा ने हमें इन श्रेष्ठिपुत्र को सुशर्म नगर तक छोड़ने इनके साथ भेजा है।

तुम्हारे पास कुछ द्रव्य अलंकारादि है क्या ?

हां है।

बताओ क्या क्या है ?

ये आभूषण हैं। यूं कह धनदेव ने श्रावस्ती नरेश द्वारा दिए हुए आभूषण बताए। अलकार देखते ही—

अरे, यह भी महाराजा के ही कुछ वर्ष पहले चोरी गए हुए अलंकार हैं। सच कहो, ये तुम कहाँ से लाए हो ?

आपको भी झूठ कहेंगे क्या ? श्रावस्ती नरेश ने दिए हैं।

अच्छा, यो नहीं मानोगे हमारे नगर की सब चोरियाँ भी तुमने या तुम्हारे साथियों ने ही की है। ऐसा कह कर उनके पास वाले सारे अलंकार एक थैली में मोहर बन्द कर उन सब को कारावास में डाल दिया और कहा गया कि तुम सब पर न्यायालय में अभियोग चलाया जायगा।

धनदेव आदि बहुत नम्र प्रार्थना करते रहे पर एक भी बात सही न मान उन्हे बंदीगृह में डाल दिया गया।

कुछ दिन बाद एक सन्यासी को चोरी के माल सहित राजपुरुषों ने पकड़ा। न्यायाधिशों ने कहा-यदि साधु सन्यासी भी ऐसा काम करेंगे, तो जगत का क्या होगा ? यह सोच उनके लिए वध

का आदेश दिया।

वध स्थान पर जाते हुए संन्यासी ने सोचा, मेरे मरने के पश्चात मेरा गाडा हुआ धन यों ही गड़ा रह जायगा। अतः वह द्रव्य जिनका है उन्हें समर्पित करके मरु । यह सोच वह बोला—

मैंने और भी बहुत चोरियाँ की है तथा प्रचुर प्रमाण में द्रव्यादि पृथ्वी में गाड रक्खा है। मेरे मरने के बाद वह क्या काम आएगा ? अत मुझे वध करने से पहिले मुझे मंत्री के पास ले चलो। संन्यासी के ऐसा कहने पर उसे मंत्री के पास लाया गया।

मंत्री के पास आने पर उसने मंत्री को अपने वे सब स्थान बताये, जहाँ द्रव्य गाडा हुआ था। मंदिर पर्वत, नदि तीर, उपवन, शून्य गृह आदि स्थानों में प्रचुर मात्रा मे द्रव्य और महार्घ आभूषण निकाले गए। एक वक्त की राज चोरी के अतिरिक्त और सब द्रव्यादि को देख मंत्री ने कहा—

हे महात्मा। वेश से विरुद्ध वर्तन और उससे विरुद्ध आपका स्वभाव देखकर मुझे अत्यन्त विस्मय उत्पन्न हुआ है। अतः इस परस्पर विपरीत आचरण का भेद कहो।

मंत्री विषय लुब्धों के लिए कुछ भी विपरीत नहीं है।

अज्ञानियों के लिए यह ठीक है, आप जैसों के लिए यह युक्तियुक्त नहीं। कृपया जो सत्य बात हो। वह निस्संकोच हो कहिए।

मंत्रीवर ! मेरा विचित्र वृत्तांत है, जो एक अवधिज्ञानी श्रमण ने मुझे कहा था। वह आपको सुनाता हूँ—

पुण्ड्रवर्धन नगर निवासी सोमदेव ब्राह्मण का नारायण नामक मैं पुत्र हूँ। प्राणिवध वाले यज्ञ याग का प्ररुपण करता हुआ मैं वहां रहता था। एक बार राजपुरुषों ने किसी चोर को पकड़ा था, मैंने कहा—मार डालो इस दुष्ट भुजंग को। यह सुन निकटवर्ती अवधिज्ञानवान मुनि बोले—

ऐसा पीड़ाकारी वचन नहीं बोलना चाहिए। कर्मवश निरपराधी होते हुए भी इसे तू महाभुजंग और मार डालो आदि कहता है, यह उचित नहीं, ऐसा नहीं कहना चाहिए। पतित को पतित और चोर को चोर कहने में भी दोष लगता है तो जो चोर नहीं है उसे चोर कहने में तो महादोष लगता है। मारो, यह कहना भी महापाप है। जहां हिंसा है वहां अधर्म और जहां दया है वहीं धर्म है। भवांतर में भी खोटे आरोप जन्य क्लेश को तू पाया है, कुछ दिन बाद और भी अधिक कष्ट तू पाने वाला है।

यह सुन मैंने चिंतित हो उनसे पूछा—

प्रभु भवांतर में मैंने कैसे आरोप कलंक दिये ? तथा क्या क्लेश मैं पाया और अब पाऊंगा, सो कृपाकर विस्तार पूर्वक कहिए।

पांचभव पहले की बात है, गजनक नगर में आषाढ़ नाम के ब्राह्मण का तू चण्डदेव नामक पुत्र था। तूने अच्छी तरह वेदादि शास्त्रों का अध्ययन किया। तू महाविद्वान तो हुआ किन्तु तुझे विद्या का गहरा अभिमान था अपनी विद्वत्ता के कारण तू वीरसेन राजा की सभा का शृंगार बना हुआ था। राजा तुझे सम्मान की दृष्टि से देखता था।

उसी नगर में विनीत श्रेष्ठी की कन्या वीरमती बालविधवा होने से पिता के घर ही रहती थी। वह परिवार परिव्राजक भक्त था। वीरमती भी अत्यंत धार्मिक वृत्ति की थी।

यौवन में वह विषयवश हो सिंहल नाम के पुरुष के साथ भाग गई उसी दिन योगात्मा नाम के परिव्राजक जो कुछ दिन से वहां आए हुए थे, अन्य स्थान को चले गए। अरे वीरमती भाग गई, ऐसा गाँव में हो हल्ला हो गया। यह बात तूने सुनी और परिव्राजक के जाने का वृत्तांत भी सुना। तूने अपने मन में ही ऐसा विश्वास कर लिया कि वीरमती परिव्राजक के साथ भाग गई। इतना ही नहीं जब एक बार राजसभा में वीरमती की बात निकली तब भी तूने यही कहा कि—अरे, वह तो परि-

व्राजक के साथ चली गयी है।

यह सुन राजा ने कहा नहीं, ऐसा कैसे हो सकता है ? जिस ने अपना धन कुटुम्ब, पत्नी आदि को छोड़ दिया हो वह पराई स्त्री को क्यों ले जाने लगे ? वे परिव्राजक है, महात्मा हैं।

तभी तो पराई नारियां ले उडते हैं। महाराज ! पाखंडी लोग ऐसे ही होते हैं। तेरा ऐसा वचन सुन राजा कुछ नहीं बोले। कई लोगों की धर्म श्रद्धा डिगमिगा गई, कई धर्म से विमुख भी हुए। अन्य परिव्राजकों ने यह वृत्तांत सुन योगात्मा से व्यवहार तोड लिया। योगात्मा ने अनेक यातना एवं विडवनाएं सहन की। तूने इस तरह तीव्र कर्म का वध किया। वहां से मरकर कोल्लाक गांव में भेड़ बन जन्मा। कलंक दोष से तेरी जीभ में महारोग उत्पन्न हुआ। न कुछ खाया ही जाता, न मुंह बंद हो पाता। निरन्तर दुःख का अनुभव कर तड़प तड़प कर मरा और अरण्य में गीदड़ (सियार) बन जन्मा। बड़े होने पर, उस दुष्कर्म के उदय से फिर तेरी जीभ पक कर सड़ने लगी। महावेदना सहते सहते मरकर साकेत नरेश की उपपत्नी मदनलेखा की कुक्षि से पुत्र रूप में तू उत्पन्न हुआ।

एक बार तू सुरापान से मत्त हो राजमाता को बुरा भला कहने लगा। राजपुत्र तुझे समझाने आया तो उस पर भी आक्रोश करने लगा। यह सब देख राजा ने तेरी जीभ कटवा

डाली। तेरा मद उतर गया। तू बहुत लज्जित हुआ। अपने दुष्कार्यं का तू पश्चात्ताप करने लगा। दु:ख पूर्वक आयुष्य को पूर्ण कर तू यहां यहां ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ है। दूसरों पर कलंक चढ़ाने का यह फल तुझे मिला। अतः अब दूसरों पर झूठे दोषारोपण करने से बच।

यह सुन मुझे वैराग्य उत्पन्न हुआ और प्रमादाचरण के ऐसे कटुविपाक को समझ मैं कांप उठा। अब भी उस दुष्कर्म का फल बाकी रहा क्या? मेरे ऐसा पूछने पर वे करुणा निधि मुनिवर बोले वत्स! अभी एक बार और तेरी विडंबना और होना शेष है।

ऐसे मुनिवचन से मेरा संसारभय और वैराग्य भाव बढ़ा। और मैंने सुगृहीत परिव्राजक के पास सन्यास ग्रहण किया।

गुरू की अंतसमय में मैंने अच्छी सेवा भक्ति की। एक दिन गुरुजी बोले—बेटा, तालोद्घाटिनी (ताला खोलने की) तथा गगन गामिनी ये दो महा विद्याएं मैं तुझे सिखाता हूँ तू उन्हें ग्रहण कर। धर्म कार्य में या कहीं महा संकट उत्पन्न होवे तब ही इनका उपयोग करना। सांसारिक विषयादि प्रयोजन में इनका उपयोग नहीं करना। परिहास में भी असत्य भाषा नहीं बोलना। यदि प्रमाद से असत्य भाषण हो जावे तो, नाभिप्रमाण शुद्ध जल में खड़े हो, हाथ ऊपर उठा, अनिमेष आंखें रख इन

विद्याओं का आठ हजार बार जाप करना। यदि ऐसा नहीं किया तो ये विद्याएं अपना फल नहीं देंगी।

'आप जैसी आज्ञा करते हैं, वैसा ही करुंगा,' कह कर मैंने दोनों विद्याएं ग्रहण की। गुरुजी का स्वर्गवास हो जाने पर मैं स्वेच्छाचारी होगया और गुरुजी की आज्ञा विरुद्ध आचरण करने लग गया। कल मध्याह्न के बाद मैं उपवन में बकुल वृक्ष के नीचे बैठा हुआ था। वहाँ कुछ तरुणरमणियों ने मुझ से हास विलास में पूछा हरि-हर ब्रह्मा भी जिसके वश हैं ऐसे विषयसुख को छोड़ कर इस युवावस्था में ऐसे दुष्करव्रत को क्यों स्वीकारा है आपने ?

यह सुन मैंने भी ठट्ठे में उभय लोक विरुद्ध असत्य उत्तर दिया कि हृदयानुकूल प्रियतमा नहीं मिलने से ही मैंने यह दुष्कर व्रत स्वीकारा है। परिहास में मैं असत्य तो बोला गया किन्तु गुरू महाराज की आज्ञानुसार महाविद्या का ८ हजार जाप करना भूल गया। दुर्भाग्यसे रात्रि को ही सागर श्रेष्ठीके घर चोरी हेतु प्रवेश किया। सुवर्णादि ग्रहण कर बाहर निकलते ही सेठ के परिवार ने मुझे देख लिया। विद्या का स्मरण कर मैंने आकाशमें गमन करना चाहा, किन्तु गगन गामिनी विद्या का प्रभाव नष्ट हो जाने से मैं घेर लिया गया। यह मेरा वृत्तात है।

मंत्री बोला' भगवन्। नगर का सारा ही चोरी गया वैभव

मिल गया, किन्तु उन में एक बार चोरी मे गए राजा के अलंकार अब तक नहीं मिले हैं।

परिव्राजक ने कहा—वह भी मैंने ही चुराये हैं। श्रावस्ती निवासी गन्धर्वदत्त मेरा प्राणप्रिय मित्र है। एक बार राज अपराध में फस गया था उसे छुडाने हेतु महाराजा के अलंकार मैंने श्रावस्ती नरेश को दण्ड दिए थे।

अच्छा किया, महापुरुष परोपकारी ही होते हैं। भगवन्! अब शेष जीवन वेशानुसार विवेक पूर्वक आप व्यतीत करें और जनता को सन्मार्ग का उपदेश देवें। यह कहकर परिव्राजक को छोड़ दिया।

ये परदेशी सत्य कहते हैं, ये अलकार श्रावस्ती नरेश ने ही दिए हैं। ऐसा निश्चय कर धनदेव आदि को भी मुक्त कर दिया गया।

धनदेव ने राजपुरुषों को कहा—आप लोग श्रावस्ती चले जाओ। यहाँ से मैं स्वदेश को पहुँच जाउंगा। और वह अकेलाही आगे चला। चलते हुए मार्ग मे एक पागल हाथी को सामने आता देख धनदेव एक वट वृक्ष गया पर चढ़ गया वहां पर एक घोसलेमें वही रत्नावलि हार पडा हुआ था, जो श्रावस्तीमें बाज पक्षी उडा ले गया था। उसे ग्रहणकर, हाथीके चले जाने पर धनदेव नीचे उतरा और हार लौटाने के उद्देश्य से वह श्रावस्ती को वापस लौटा।

इधर धन द्वारा वापस भेजे हुए राजपुरुष जब श्रावस्ती पहुँचे तो राजा ने उनसे कहा अरे दुर्बुद्धिवालों ! उस पुरुष रत्न को अकेला क्यों छोड़ दिया ? मैंने सुशर्म नगर तक साथ में जाने के लिए कहा था न । जाओ, उसे खोजकर उसके नगर में पहुँचाओ, बाद में यहां आना ।

सेवक गण वापस धनदेव को खोजने निकले । प्रियमेलक सन्निवेस में ही उनका धनदेव से मिलाप हुआ । परस्पर अपने अपने समाचार का निवेदन कर सब श्रावस्ती की ओर अग्रसर हुए । कुछ दिनों के बाद वे श्रावस्ती नरेश के समक्ष उपस्थित हुए । राजा प्रसन्न हुए । धनदेव ने राजा को रत्नावलि बताकर उसकी प्राप्ति के समाचार कहे ।

विस्मित हो राजा बोले—अहो कैसी विचित्रता है ? भद्र ! यह मैं तुम्हें देता हूँ । इसे स्वीकारो मना करने से मुझे दुःख होगा । यह कह राजा ने धनदेव के गले में वह रत्नावलि पहना दी ।

राजा के आग्रह से धनदेव ने श्रावस्ती नगर में ही वाणिज्य व्यवसाय प्रारम्भ किया । थोड़े ही दिनों में वह धनवान बन गया । अनेक हाथी, घोड़े, ऊंट, खच्चर आदि युक्त महासार्थ से वह अपने नगर जाने के लिए तैयार हुआ । राजा ने बहुमूल्यवान पदार्थ एवं नाना प्रकार के रत्नमणि एवं द्रव्य का उपहार

दिया। और सन्मान पूर्वक उसे विदा दी।

धनदेव भी अनेक नगरों में विचरण करता हुआ महामार्थवाह बन सुशर्म नगर पहुचा। समस्त नगर निवासियों ने उसका भावभीना स्वागत किया। गुरुजनों ने आशिर्वाद दिए। माता पिता के चरणों में उसने नमस्कार किया। माता पिता ने भी आनंदित हो आशिर्वाद दिए। धनदेव ने सब मंदिरों में महोत्सव करवाये तथा महादान दिए।

धनदेव के मुख से उसके साथ बीती घटनाओं का पूर्ण वृत्तांत सुनकर उसके माता पिता को बड़ा विस्मय एवं खेद हुआ। वे बोले—धनश्रीके आचरण शुरू से ही अच्छे नहीं थे। कोई बात नहीं। तू चिंता मतकर, तेरे योग्य पुत्रवती और कुलवती दूसरी कन्या देखेंगे।

आप भी क्या संताप करने लगे? ऐसा ही संसार का स्वभाव है।

सचमुच तेरे विचार महापुरुष के अनुरूप हैं।



आचार्य देव श्री यशोधर

धनदेव की कीर्ति दशों दिशाओं में फैलने लगी। वह किसी भी याचक को कभी निराश नहीं लौटाता था। एक बार कई स्नेही मित्रों के साथ वह सिद्धार्थ नामक उपवन में जा पहुँचा। वहाँ अशोक वृक्ष के नीचे एक सुंदर शिलापट पर यशोधर नामक आचार्य देव को देखे, जो अनेक शिष्यों के मध्य में विराजमान थे। उनके यौवन, रुप, लावण्य एवं अति प्रतिभा संपन्न शरीर सौष्ठव को और उनकी तेजस्वी शांत मुद्रा को देखता ही रह गया। बरबस उनके पास जा उन्हें एवं अन्य मुनिराजों को वंदनकर, आचार्य श्री की सेवा करने बैठ गया। उनके अलौकिक गुण देख मन ही मन प्रमोद पाने लगा। अंत में वह उन्हें पूछ ही बैठा—

भगवन्! यह यौवन यह रुप लक्ष्मी, यह कमनीयता, और अत्यंत सौभाग्य आपको सहज ही में प्राप्य होते हुए भी आपने इस छोटी वय में चारित्र क्यों अंगीकार किया?

महानुभाव! जिस शरीर में हड्डी, मज्जा, वीर्य रुधिर, मांस, कफ, पित्त, विष्ठा और मूत्र ही भरा पड़ा हुआ हो, वैसे मैले थैले को तुम कमनीय और सुंदर कहते हो? और जहाँ मृत्यु का कोई निश्चत समय नहीं, फिर चारित्र के लिए भी कोई निश्चित

वय हो सकती है क्या ?

सत्य कहते हैं आप, प्रभु ! क्या आप बताने की कृपा करेंगे कि आपको ऐसा सौभाग्य कैसे मिला ? धनदेव के पूछने पर आचार्य श्री ने अपना 'यशोधर चरित्र' कह सुनाया। और आटे का कुर्कुट (मुर्गा) मारनेसे मुझे कैसे कैसे कष्ट कितने भवों तक सहन करने पड़े आदि वृत्तांत करुणा के साथ कह सुनाया। ज्ञानी भगवंत के मुख से मेरी कथा सुन, मैं विराग पाया और मुझे भी चारित्र का लाभ मिला। यह सुन धनदेव अत्यन्त प्रमुदित विस्मित एवं पाप के विपाक से भयभीत हुआ।

आचार्य श्री ने धर्म के महात्म्य को समझाते हुए कहा—धर्म अर्थ-काम-मोक्ष इन चारों के पुरुषार्थ में धर्म ही श्रेष्ठ है और धर्म ही सब पुरूषार्थों का अमोघ कारण है। ज्यों बिना कारण के कार्य नहीं, वैसे बिना धर्म के इच्छित वस्तु की प्राप्ति संभव नहीं। मानव तन, आर्य देश, उत्तम कुल, स्वस्थ शरीर, दीर्घायु, स्वाधीनता आदि उत्तरोत्तर महादुर्लभ हैं, उसमें भी वीतराग प्रणीत धर्म और उस धर्म पर श्रद्धा होना अत्यंत कठिन है। हे देवानुप्रिय ! यह सब तुम्हें महापुण्य के उदय से प्राप्त हुआ है; अतः पुरुषार्थ का आश्रयण कर तुम्हें महापुरुषों से सेवित श्रमण धर्म की उपासना करनी चाहिए। सर्व सामग्री से परिपूर्ण मनुष्यत्व, एवं श्री वीतराग देव के धर्म शासन की प्राप्ति का इसमें ही साफल्य है। चारित्र के पालन से जीव

अल्प काल मे ही जन्म, जरा, मरण, रोग, और शोक रहित परम पद मोक्ष को पाता है । इसको प्राप्त करने के लिए उद्यम करो। अन्य सव उद्यम से क्या लाभ ? सर्व संयोग के अंत में दारुण वियोग होता है। सुरेन्द्र और असुरेन्द्र को भी नष्ट करने वाली मृत्यु सब के पीछे पडी हुई है । शरीर रोगों का घर है और राक्षसी जैसी वृद्धावस्था सबका पीछा पकड़े हुए है । विषय और प्रमाद का परिणाम अत्यत दारुण है आदि समझ कर आत्म कल्याण के लिए संयम धर्म की निरंतर पालना करनी चाहिए।

यह सुन धनदेव को संयम का भाव उत्पन्न हुआ। वह बोला:—

'भगवन् ! आप यथार्थ कहते हैं । बड़ा उपकार किया आपने, मुझे सन्मति-दी । मैं माता-पिता की अनुमति लेकर आता हूं। मुझे भी भागवती दीक्षा देकर अनुग्रहीत कीजिएगा।

देवानुप्रिय ! धर्म के कार्य में ढील नहीं करना चाहिए।

'आप यथार्थ कहते हैं।' कह कर धनदेव घर गया और आग्रहपूर्वक माता-पिता से चारित्र लेने के लिए अनुमति मांगने लगा। माता-पिता ने उसे बहुत समझाया और संयम की कठोरता बतलायी, किन्तु धनदेव अपने निश्चय पर अटल

रहा। तब श्रेष्ठी ने कहा:—

'बेटा, मैं तेरे आत्म कल्याण मार्ग में अंतराय नहीं करता किंतु यौवन वय की यह विचित्र अवस्था है, इन्द्रियों का दमन दुष्कर है, संसार वृक्ष का बीज अनंग उत्पन्न होता है, और मनोहर विषयादि आकर्षण करते हैं। ऐसी अवस्था में दीक्षा कितनी दुष्कर हो जाती है ? तू इस पर गंभीरता पूर्वक खूब सोच समझ ले।

'पिताजी। अनादि काल से भवों भवों में भटकते हुए इस जीव को न यौवन है न बुढ़ापा। अविवेक ही यौवन है। वृद्ध जन भी यहां लोकनिन्दा को न देख विषयवश अपनी आत्मा को विडंबना में पटकते हैं। श्वेतबालों को काले बनाते हैं। पारद आदि के रसायन का सेवन शारीरिक सामर्थ्य के लिए करते हैं। अपनी वय भी कम बतलाते हैं। विकारशील हो कृत्रिम साधनों का सेवन करते हैं। शरीर, आयु की क्षण भंगुरता या जन्मांतर की चिन्ता भी वे नहीं कर पाते।

दूसरी ओर तरुण भी श्रुतज्ञानी, विवेकी, होते हैं। लक्ष्मी की चंचलता, संसार की असारता, विषय की दारुणता, प्रमाद की भीषणता, और मृत्यु की भयंकरता जानकर पाप के हेतु से डर कर चारित्र को शुद्ध अन्तःकरण से पालते हैं। इसलिए यौवन धर्माचरण में कतई बाधक नहीं है। आदि

अनेक प्रकार से माता-पिता को संसारकी वास्तविकता बतला कर धनदेव ने माता पिता की अनुमति प्राप्त करली। उसके माता की भावना बढ़ी, उन्होंने भी दीक्षा लेने का निश्चय किया। महादान देना शुरू किया और जिनालयों में अट्ठाई महोत्सव किये।

शुभ दिन उत्तम मुहूर्त में माता-पिता एवं अन्य कई मनुष्यों के साथ धनदेव ने श्री यशोधराचार्य के पास महा भगवती आर्हती दीक्षा विधिपूर्वक स्वीकार की।

संयम, तप और ज्ञान की उपासना में काल बीतने लगा। धनमुनि सूत्रधर गीतार्थ बने, क्रिया कलाप मे कुशल बने, और वैराग्य के अतिशय से एकाकी विहार की प्रतिमा स्वीकारी। वे पृथ्वी को पावन करते हुए अकेले ही अप्रतिबाद विहार करने लगे।

इन दिनों धनश्री प्रकट रीति से नन्दक की पत्नि बन कर कौशांबी में रहती थी।

धनश्री ने धन को समुद्र में गिरा दिया, और ढूंढने पर भी जब धनदेव नहीं मिला तब नन्दक धनश्री के वश हुआ। स्त्री और विपुल धन के लोभ ने उसे मूढ़ बना दिया था। धनदेव तथा उसके पिता के किये हुए उपकार को भी वह भूल गया।

सुशर्म नगर के बदले दोनों ही कौशाम्बी में आये। वहां अपना निवास स्थान बनाया। अपना नाम समुद्रदत्त रख व्यापार व्यवसाय करता हुआ नन्दक धनश्री के साथ यथेच्छ सुखपूर्वक रहने लगा।

धनमुनि भी ग्रामानुग्राम एकाकी विहार करते हुए कौशांबी में आये। उचित समय पर गोचरी को निकले और योगानुयोग धनश्री के घर में प्रवेश किया। धनश्री ने उन्हें पहचान लिया। वह चकित हो कुछ बोल न पायी, धनमुनि पीछे लौट गये। धनश्री ने सोचा—

यह अभी तक नहीं मरा ? यह योगिनी की औषध और समुद्र की गहराई एवं जलजंतु भी इसका कुछ नहीं कर सके। मुझे भी पहचान लिया होगा, तभी तो शीघ्र ही लौट गये। यह सोच उसने अपनी दासी से कहा— तू इन श्रमण का पीछा कर उनका स्थान देख आ, ये कहां ठहरे हैं ? यह सुनते ही दासी धनमुनि के पीछे लग गई। यथोचित आहार ग्रहण कर मुनि नगर बाहिर ग्रामदेवता के उद्यान में पहुँचे। सान्ध्य समय दासी लौटी और स्थानादि के सब समाचार धनश्री से कह सुनाये।

कपट पटु धनश्री ने पूजापा एकत्रित किया। नंदक को कहा 'तुम व्याधिग्रस्त थे तब मैंने देवी पूजा की मानता मानी

थी। अत' मैं नगर देवता की पूजा करने जा रही हू। रात वहीं रहूगी। यूं कहकर दो सेवक और उस दासी को साथ ले उसी उद्यान में पहुंची जहां धनमुनि ठहरे हुए थे। वहां एक वृक्ष के नीचे काउसग्ग ध्यान में स्थित धनमुनि को देख उन्हें मारने के उपाय सोचने लगी। उद्यान के समीप ही काष्ठ से लदी एक वैलगाड़ी पड़ी थी। उसका पहिया टूट जाने से गाडीवाला बैल को ले गांवो मे चला गया था। अंधेरा भी काफी हो गया था। धनश्री ने सोचा 'इन लकड़ियों से धन को जला दूं। देवता की पूजा आरती आदि हो जाने पर दास दासी आदि सब भोजन-प्रसाद पाकर सो गये थे।

मध्यरात्रि के समय धनश्री सावधानी से उठी। ध्यान में मग्न मुनिवर के चौतरफ लकड़ी जमा कर उसमें आग लगा दी और अपने स्थान में आकर लेट गयी।

कुछ ही क्षणों म आग की लपटों ने मुनिवर की काया को घेर लिया। मुनि अंत समय जान आत्म साधना में जागरुक बने।

वे धन्य हैं जो मोक्ष को प्राप्त हो चुके हैं, वहां उन्हें तो कर्मबंध का कारण नहीं, किन्तु वे अन्य के कर्मबंध में भी निमित्त भूत नहीं बनते। मेरा तो कुछ नहीं जलता, किंतु यह कोई जीव मेरे निमित्त से दुर्गति में जायेगा। यह शरीर तो आगे

या पीछे जलाया ही जाता परन्तु श्री जिनवचन को जिन्हें
नही पाया वह दुख समुद्र से निकल ही नही पाते। मेरा कोई
शत्रु नहीं है, मुझे किसी से वैर नहीं। 'नमो अरिहंताणं'
आदि कहते हुए, धनमुनि के प्राण निकल गये और वे महाशुक्र
(सातवें) देवलोक में पन्द्रह सागरोपम की आयु वाले ऋद्धिमान
देव हुए।

प्रातःकाल धनश्री दास-दासी को लेकर घर को चली आ
मार्ग में बुझी हुई आग और अस्थि देख दास दासी आदि बो
लगे— अरे, यहाँ तो वे मुनिराज ध्यान धर रहे थे। उनका
क्या हो गया ?

धनश्री बोली— अपने को क्या पता ? चलो चुपचाप ?

यह सुन दासी को संशय उत्पन्न हुआ। 'सेठानी ने
मुनिका पता लगाने को भेजा था। अर्ध रात्रि को यह
से उठकर कहीं गई भी थी, बाद में प्रकाश भी देखा था
जाने क्या हुआ होगा ? इस दुष्टा ने मुझे मुनि का पता
क्यों भेजा ? महापाप कार्य में नियोग किया। धनश्री
घर पहुचे।

इतने में उस उद्यान में वह गाडीवाला आया। अपनी
का यह भयंकर दुरुपयोग देख उसका सारा शरीर
लगा। उसने राजा से यह सब वृत्तान्त निवेदन किया।

भी क्रोधित हुआ और दण्डपाशिक को आज्ञा दी कि 'तुरन्त ही मुनि के हत्यारे को खोज निकालो।' दण्डपाशिक ने देवी के पुजारी को पूछा कि 'कल संध्या या रात्रि को यहां कौन २ आया था ?

'यहां कोई भी नीच या दुष्ट पुरुष-स्त्री नहीं आये। मात्र समुद्रदत्त की गृहिणी पूजा निमित्त आयी थी और रात भर रही थी। ये लोग तो कुलवान है। ऐसा कार्य वह नहीं कर सकती।'

यह सुन दण्ड पाशिक ने सोचा न आज अष्टमी है न चतुर्दशी, फिर यहां रात रहने का क्या कारण है ? यह सोच वह समुद्रदत्त (नन्दक) के घर आया। द्वार पर आकर बोला—

'सार्थवाह पत्नी हैं क्या ? यह सुन दासी आयी। दण्ड पाशिक को देख वह घबरायी और पूछा 'क्या काम है ?

दासी की व्याकुलता देख दण्डपाशिक ने डांटते हुए पूछा, अरे, पापिनी ? मुनिका हत्याकाण्ड भूल गयी क्या ?'

व्याकुलता और भयवश विना विचारे ही दासी बोल उठी'- 'आर्य स्वामिनी ने मुझे मुनिका पता लगाने मात्र को भेजी थी। और मैं कुछ भी नहीं जानती।'

यह सुन दण्डपाशिक की शंका पुष्ट हुई। वह बोलाः—

'सुन्दरी ? भय की शंका न कर। सच सच कह दे, क्योंकि

पाप ज्यादा समय तक छिप नहीं सकता। क्या कारण था उनका पता लगाने का ?'

दासी बोली 'आर्य ? वे श्रमण कल मध्यान्ह बाद यहा भिक्षा के लिए आए थे। वे भिक्षा लिए बिना ही शीघ्र लौट गये। स्वामिनी ने मुझे कहा, मंजरिका ! श्रमण कहां ठहरे हैं? पता लगा और शीघ्र निवेदन कर। मैंने पता लगाया और निवेदन किया।

'वहां जाकर श्रमण की वंदना, सेवा, उपासनादि किये ?

'नहीं आर्य ? मात्र चण्डिका की पूजा की।'

यह सुन दण्डपाशिक की शंका और दृढ़ हुई। उसने सीधा ही घर में प्रवेश किया और धनश्री से कहा:—

'तुम्हारे पर मुनिहत्या का आरोप है। चलो राजसभा में चलना पड़ेगा।' यह सुनते ही धनश्री का शरीर थरथर कांपने लगा और वह पृथ्वी पर गिर पड़ी।

जन-समुदाय एकत्रित हो गया, सब लोग धनश्री की निन्दा करने लगे। नंदक वहां आया किन्तु परिस्थिति की गम्भीरता देख भाग गया। राजपुरुषों सहित दण्डपाशिक धनश्री एवं दासी को ले राजसभा में आया।

न्यायालय द्वारा धनश्री को कारावास में डाला गया। ग्राम

देवी के पुजारी, दासी, मंजरिका, एवं बैलगाड़ी वाले आदि की साक्षी से धनश्री पर आरोप सिद्ध हो चुका था किन्तु नीतिमान् राजा कहने लगे— यह कुलवती नारी ऐसा दुष्कर्म नहीं कर सकती। इसके पति एवं पिता आदि का पता लगाओ।

समुद्रदत्त (नन्दक) को बहुत खोजा गया किंतु कहीं पता नहीं चला। सुशर्म नगर में राजपुरुषों को भेजा गया। वहाँ धनश्री के पिता पूर्णभद्र और धनदेव के पिता वैश्रमण के साथ बातचीत आदि से पता चला कि वह कुलटा दोनों कुल को कलंकित करने वाली है एवं उसके पति दीक्षित हो त्यागी बने हैं। हो सकता है, दुष्टा ने उन्हीं का नाश किया हो। कुछ दिनों में राजपुरुष सुशर्म नगर से एक लेख लेकर लौटे। उसमें लिखा था:— मेरी एक पुत्री धनश्री है, जिसने कुल को कलंकित कर हमारे उज्ज्वल यश को मसी से पोत दिया है लि०- पूर्णभद्र।"

इन सब प्रमाणों से न्यायशास्त्री ने कहा:—'यह नारी पिशाचिनी से भी ज्यादा दुष्ट है। क्योंकि निसंशय यह ऋषि घातिनी है। फिर भी नारी समझ न्याय देवता इसे मृत्यदण्ड नहीं दे सकते। अतः इसे महाविडंबना पूर्वक देश की सीमा के बाहिर निकाल दिया जाय।'

धनश्री के बाल काटे गये मुंहकाला किया गया और गधे

पर विठा विडम्बना पूर्वक नगर के मुख्य २ मार्गों में घुमाते हुए सीमा पर छोड़ दिया गया।

जंगल में अनेक क्लेश, भूख-प्यास, वस्त्रों का अभाव, शीत-गर्मी आदि अनेक आतंक सहे। अंत में एक दिन उसे सर्प ने डस लिया और वह मरकर तीसरी नरक में गई। जहां सात सागरोपम की आयुष्य स्थिति है।



पंचम भव

जय और विजय

काकन्दी नगरी में सुरतेज नाम के न्यायप्रिय राजा राज्य करते थे। उनके रुप-लावण्य और गुणान्विता लीलावती नामकी सर्वांग सुन्दर पटरानी थी। जय और विजय नाम के दो पुत्र थे। जय वडा और विजय छोटा था।

जयकुमार वय में ही वड़ा नहीं था किन्तु गुणवान्, उदार, सरल दाक्षिण्यवान, दयालु एवं दीर्घ दृष्टा भी था। इसके विपरीत छोटा भाई विजयकुमार अवगुण का भण्डार, स्वार्थी, कपटी, निर्लज्ज एवं क्रूर स्वभाव का था। जयकुमार का युवराज पद उसे हमेशा शल्य की तरह खटकता था। दोनों भाइयों ने शास्त्र व शस्त्रास्त्र विद्या को ग्रहण करते हुए युवावस्था में प्रवेश किया। राज पुत्रियों के साथ उनका पाणिग्रहण हुआ।

महाराजा सूरतेज की मृत्यु हो जाने से जयकुमार को विधिपूर्वक राज्यारुढ़ कर महाराजा घोषित किया गया।

महाराजा हो जाने पर भी जयकुमार में गर्व के स्थान पर

नम्रतादि गुणों ने विस्तार पाया। तथापि उनका प्रताप दुष्टों के लिए असह्य रहा।

राजा जयसेन को विजयसेन अत्यंत प्रिय था किन्तु विजय सेन जयसेन को देखना भी पसन्द नहीं करता था और न उसके गुणों की प्रशंसा नहीं सुन सकता था। अस्खलित प्रवाह से समय बितने लगा।

अपने कुछ साथियों के साथ राजा जयसेन एक बार नगर के एक उद्यान में गया। वहां उन्हें सनतकुमार नाम के आचार्य देव के दर्शन हुए। यौवनवय, सुवाँग सुंदर तेजस्वी शरीर, भुवन मोहन रुप, चंद्र की तरह शीतल वदन, अमृतमी मधुर वाणी आदि असाधारणता को देख राजा बड़ा प्रमुदित हुआ। मुनिमण्डल को विनम्र वंदना कर आचार्य श्री के उपदेश को सुनने बैठा। आचार्य देव की मनोमुग्धकारी उस वाणी पर उसे अतीव प्रतीति एवं प्रीति उत्पन्न हुई। उसको आत्म-भूमि में वैराग्य के बीज पड़ गये। वह धर्म पाया, कृतकृत्य हुआ। धर्म की, त्यागियों की प्रशंसा करता, तथा अपने को भाग्यशाली मानता हुआ अपने महल में आया। राज्यकार्य करते हुए भी उसका चित्त नित्य उदासीन एवं वैराग्य वसित रहने लगा। प्रतिदिन प्रवचन, श्रवण से श्रद्धा संवेग पुष्ट होने लगे। एक मास बाद आचार्य देव मुनि मंडल सहित वहां से अन्यत्र विहार कर

ये। जयसेन पर धर्म का गहरा रंग लग गया था।

राजा जयसेन की कीर्ति ज्यों ज्यों बढ़ती गयी, त्यों त्यों विजयसेन की इर्ष्या एवं दुर्बुद्धि भी वृद्धि पाने लगी। वह राज्य प्राप्ति के लिए षडयन्त्र करने लगा। एक बार उसने राजा जयसेन को राज्यभ्रष्ट कर कारावास में डालने की योजना बनाई। उसके जैसे स्वभाव वाले स्वार्थान्ध और लालची मनुष्यों को अपने पक्ष में लेकर समझाया कि:—

राजा कर्तव्य का पालन नहीं कर पाता, क्योंकि वह धर्म का ढोंग ले बैठा है। बड़ा दयालु बन बैठा है, और दिन प्रतिदिन अपराधियों की संख्या बढ़ रही है, क्योंकि राजा दुष्टों को भी कठोर दंड नहीं दे पाता। राज्य भंडार को अपना समझ वह धर्म के नाम जहां तहां धन बहा रहा है, जिसका कोई फल नहीं। यह धर्माचार्य के ढोंग का शिकार बन चुका है। इसमें राज्य चलाने की कोई योग्यता नहीं है। इत्यादि समझा कर उसने अपना पक्ष सुदृढ़ किया और जयसेन के छिद्र देखने लगा। राजमाता लीलावती को इस बात का पता चला और वह जयसेन के पास आ कहने लगी—

'बेटा तू तो गुणवान् और योग्य है, तूने कुल की कीर्ति को बढाया है। प्रजा में धर्म और नीति का सींचन कर उन्हें सुखी एवं समृद्ध बनाया है। तेरी प्रशंसा दूर दूर तक फैल रही

है। सारा परिवार तुझसे अत्यंत संतुष्ट है, किंतु एकमात्र विजय सेन को तुझ से स्नेह नहीं है। भाई होकर भी उसकी यह स्थिति है। आगे क्या पता क्या होगा ?

'माताजी! आप व्यर्थ चिंता क्यों करती हैं। विजय को मुझ पर आंतरिक प्रीति है। मात्र लड़कपन है, और अभी उसकी वय भी कितनी है ? कुछ वर्ष में ही वह समझदार और प्रौढ़ बन जायेगा। जयसेन का यह उत्तर सुन राजमाता बोली:—

बेटा, और तो सब ठीक है किन्तु अब वह राज्य प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के षड़यंत्र रच रहा है।

ओहो; तो वह कौनसा कुकर्म कर रहा है ? यदि वह राज्य सम्हालेगा, तो उसमें प्रौढता और दक्षता भी आयेगी। मुझ पर भी उसका उपकार होगा, क्योंकि राज्य संचालन से मेरी आत्म कल्याण की आराधना में बहुत ही विघ्न उत्पन्न होते हैं। मेरी तो इच्छा ही नहीं थी, फिर भी मुझ पर राज्य भार थोपा गया है।

नही, वत्स! नहीं!! विना योग्यता के अधिकार नहीं मिलता यदि मिल जाए तो ठहरता नहीं है और यदि ठहर जावे तो सर्वनाश करता है। मैं तो यह कहने आई थी कि उसे युवराज घोषित कर दे। जिससे वह संतुष्ट रहे और राज्य विरोध के

कुचक्रों से अपने आपको वचाये।

माताजी, सही तो यह है कि मैं राजा बना रहना नहीं चाहता मुझे राज्य की आवश्यकता भी नहीं है और वजय को राज्य का प्रयोजन है, तो उसे राज्याभिषिक्त ही क्यों न कर दिया जाय। मुझे तो इससे अतिहर्ष ही होगा।

अरे जय। तू अत्यंत सरल ही रहा। राज्य चलाना कोई खेल नहीं है। उससे राज्य धुरा का वहन नहीं होगा। न वह इस योग्य ही है और न ऐसा करना उचित ही है।

आप चिंता न करें। कार्य आपड़ने पर मनुष्य अपने आप दक्ष हो जाता है। अनुभव होने पर कठिन कार्य भी सरल ह जाते हैं।

अत में एक शुभ दिन को राज्य छोड़ जयसेन ने विजयसेन को राज्याभिषेक महोत्सव सहित राजा बनाया। राज्य भार से मुक्त होने से जयसेन का मन प्रफुल्ल और धर्मध्याक में अधिक मग्न रहने लगे।



हत्यारा सहोदर

ग्रामोनुग्राम अप्रतिबद्ध विहार कर भव्य जीवों का उपकार करते हुए आचार्य श्री सनत्कुमार काकन्दी नगर में पधारे। उनके आगमन से सारी नगरी में धर्मोल्लास छा गया। वे क्या आये मानो साक्षात् धर्म ही आगया था। जयसेन के आनंद की तो सीमा ही नहीं रहा। उसका वैराग्य वृद्धि पाया। कर्मों का जाल शिथिल हो गया। पराक्रम उद्वेलित होने लगा। जयसेन ने संयम स्वीकार करने का निश्चय कर जिनालयों में महोत्सव आरम्भ किये और राजसभामें नएराजा वे सामंत आदि को कहा:—

जगत में सर्व वस्तुओं का अवसान बुरा है। अंत में सबका वियोग और मृत्यु अवश्यंभावी है। राज्य दुर्गति में ले जाने वाला पदार्थ है। मनुष्यभव और भगवान जिनेन्द्रदेव का वचन अतीव दुर्लभ है। यह समझ कर आत्महित में प्रमाद न करना। पिताजी ने बड़े लाड़ से प्रजा का पालन किया है, अतः कोई उपद्रव में भी पिताजी को याद न करे, इस तरह से प्रजा का पालन करना, बालचेष्टा नहीं करना, जैसे पिताजी ने और मैंने राज्य छोड़ा है वैसे ही योग्य अधिकारी प्राप्त होने पर तूभी राज्य छोड़ आत्मकल्याण की भावना अमर रखना। इस तरह नये राजा को हितशिक्षा देकर जयसेन सामंतादि को कहने लगे:—

'आप लोगों के आधार पर ही राजा-प्रजा का कल्याण अकल्याण आधारित है। आप वैसी ही प्रवृत्ति करें जो विवेक से युक्त हो। पिताजी की कृपा के अनुरुप हो। धर्म और नीति मे ओत प्रोत हो। राजकुलकी कीर्ति को बढ़ाने एवं राजा तथा प्रजा के दोनों भवों को सुधारने में उपयुक्त हो। मैं तो अब इस संसार से भी मुक्त हो महा भागवती आर्हति दीक्षा अंगीकार करना चाहता हूं।

यह सुन मंत्री, सामंतादि सब मनुष्यों की आंखें अश्रु पूर्ण हो गई। वे बोले:—महाराज! आपके बिना क्या लोक और परलोक? आप का शासन सदैव हमारे मस्तक पर रहेगा। धर्म में हम कैसे अन्तराय कर सकते हैं।

उसी समय राजमाता ने भी दीक्षा लेने का अपना निश्चय बताया। बुद्धि सागर मंत्री आदि अनेक राजपुरुषों ने भी महाराज के साथ चारित्र लेने का निश्चय किया।

एक शुभ दिन राजा जयसेन अपने सकल वैभव एवं भोग सामग्री का त्याग कर, माता एवं मंत्रिजनो सहित, अर्थीजन को महादान देते हुए, रथ में बैठ दीक्षा लेने को चले।

राजमार्ग से जाते हुए उन्हें देख 'अहो महा पुरुषार्थ? अहो महा पुरुष योग्य आचरण, अब काकन्दी अनाथ हो गयी,

प्रव्रज्या लेने का यह काल ही नहीं है राजा ने प्रथम वय में ही महात्याग का पथ लिया।' आदि अनेक प्रकार के बोल बोलते हुए नर नारी आंखों से आंसू तथा हाथों से पुष्प मोती आदि बरसाने लगे।

कुछ ही देर में सब तिन्दुक उद्यान में श्री सनत्कुमाराचार्य के पास आये और माता एवं मन्त्री सामन्तादि सहित जयसेन ने विधिपूर्वक दीक्षा ग्रहण की।

कुछ समय ठहर कर सब मुनियों को वन्दनादि कर काकंदी वासी नर नारी अविरत आंसू बहाते हुए वापस नगरी की ओर लौटे। आचार्य देव भी अपने परिवार सहित वहां से अन्यत्र विहार कर गये।

जय राजर्षी गुरुनिश्राय में श्रुताभ्यास करने लगे। कुछ ही वर्षों में वे महा विद्वान हुए। निरतिचार संयम पालते हुए अपना जीवन सार्थक करने लगे।

विजयसेन सोचने लगा—राज्य मिला, किंतु सारी प्रजा जयसेन के त्याग और ज्ञानादि की प्रशंसा करती थकती ही नहीं है। उसे मैं मारने की सोच ही रहा था कि वह त्यागी बन गया। यह सोच उसने जयराजर्षी को मार डालने के लिए दो मनुष्यों को तैयार किया। वे दोनों राजर्षी को मारने गये,

किन्तु 'मुनिको मारना महापाप है यह सोच वे वापस आये और 'उन्हें मार डाला' इस प्रकार झूठ बोल कर राजा को प्रसन्न किया। विजयसेन ने उन्हें बदले में खूब द्रव्यादि दिया।

कुछ समय पश्चात जय राजर्षी ने राजा और प्रजा को प्रति बोध देने की इच्छा से काकन्दी नगरी की ओर विहार किया। राजा विजयसेन और प्रजा को यह संदेश मिला। सामंतादि राजवर्ग एवं प्रजा को अत्यन्त आनन्द हुआ परन्तु विजयसेन के क्रोध की सीमा न रही। प्रजा सहित राज परिवार जय राजर्षी के प्रवेश उत्सव की तैयारी करने लगा। विजयसेन ने उन मनुष्यों को बुलाया—जिन्हें मुनि का घात करने भेजा था।

'अरे, सच कहो ? उस दुष्ट को तुमने कहाँ मारा ?

'देव ? नंदिवर्द्धन सन्निवेश में। वहां हमने एक श्रमण से पूछा, राजर्षी कहां है ? उन्होंने कहा, नागदेव नाम के शून्य उद्यान में ध्यान धर रहे हैं। वहां अंधेरा था तथा केश एवं अलकार रहित होने से हम पहचान नहीं पाये। वहीं उनका नाश किया।

षष्टम भव

भाग्यवान धरण

विद्या, वैभव विलास और वीरता की राजधानी जैसे माकंदी नगरी में सज्जनों का सेवक और दुष्टों का काल कालमेघ नामक न्यायप्रिय राजा राज्य करता था।

उसी नगर में बन्धुदत्त नामके एक नगर श्रेष्ठी रहते थे, जो सकल श्रेष्ठि मंडल में मूर्धन्य, राजमान्य धर्मिष्ठ एवं बडे धनवान थे।

उनके समान कुल-रुप-वैभव और नम्र स्वभाववाली हारप्रभा नामकी सुन्दर पत्नी थी। धर्मार्थ कार्यों की सेवना में उनके दिन आनन्द में व्यतीत हो रहे थे।

जयसेन (गुणसेन) का जीव आनत देवलोक से अत्यन्त सुख को भोग कर आयुष्यपूर्ण होने पर हारप्रभा की कुक्षि में शुभ स्वप्न से सूचित पुत्ररुप में उत्पन्न हुआ। योग्य समय में जन्म होने पर उत्सव मनाये गये एवं उसका नाम धरणसेन रक्खा गया। लाड़ प्यार को पाता हुआ बालक बढ़ने लगा। बड़ा होने पर कलाचार्य के पास पढ़ने भेजा गया।

हत्यारा सहोदर

(पृष्ठ ११३ का अवशेष)

तुमने किसी अन्य का नाश किया, वह दुष्ट तो यहां आ रहा है। अच्छा, जाओ कह कर विजयसेन प्रवेश महोत्सव की तैयारी का अभिनय करने लगा।

सारी काकन्दी नगरी हर्षोन्मत्त हो रही थी। राजर्षी जयमुनि का राजपरिवार एवं प्रजा ने अति उमंग से स्वागत किया। उनके आते ही चारों ओर धर्मोत्साह छा गया।

प्रवचन के बाद विजयसेन जयमुनिके पास बैठा। मुनि बोले- राजन्! अति मूल्यवान आयु यूं ही नष्ट हो रही है। सब प्राणी सुख के अभिलापी और दुख के द्वेपी हैं। किन्तु धर्माचरण किए बिना सुख नहीं मिल सकता और पापाचरण छोड़े बिना दुःख टल नहीं सकता। धर्म से इच्छित पदार्थ की प्राप्ति सौभाग्य, आरोग्य और विपुल भोगों की प्राप्ति होती है।

अतः धर्म का अवलंबन करो, मैत्री को धारण करो, नाशवान् संपत्ति को शुभकार्य में लगाओ और सर्व जीवों के साथ प्रेम का बर्ताव करो।

यह सुन विजय सोचने लगा—कैसी मीठी बात करता है

यह, किन्तु आज मैं इसको छोड़ने वाला नहीं। यह सोच वह कपट पूर्वक बोला—भगवन्! आप सत्य कहते है। आपकी आज्ञा प्रमाण है। जब से आपने दीक्षा स्वीकारी तब से मैं यह सब धर्माचरण कर ही रहा हूं।

भद्र! बहुत अच्छा करते हो। धर्म के सिवाय जग में अपना और कोई सहारा नहीं।

कुछ देर तक मुनि उपासना कर विजय वापस राजमहल में लौट आया। मन से भी किसी का बुरा नहीं चाहने वाले जयमुनि पर विजय को पूर्वकृत क्लिष्ट कर्मानुसार द्वेष आया और उसने निश्चय किया कि आज रात को जयमुनि की जीवनलीला पूर्ण कर ही देनी है।

घोर अंधेरी रात्रि में विजयसेन छद्मवेश में कुछ मनुष्यों को साथ ले जहां जयसेन मुनि ध्यान मग्न थे वहां आया। उन्हे देखते ही उसकी क्रोधाग्नि प्रज्ज्वलित हो उठी। पाप वासना में डूबे हुए उसने तीव्र कर्म परिणति से आक्रांत हो तलवार निकाली और एक ही झटके में महामुनि का मस्तक शरीर से अलग कर दिया।

गंभीर आशय वाले, विशुद्ध मैत्री वाले, अचल ध्यान वाले, शरीर पर भी ममता नहीं रखने वाले, जिन वचन में रमने वाले प्रायः नष्ट पाप कर्म वाले, शुद्ध लेश्या वाले—मुनि भगवंत

क्षमता पूर्वक देह छोड़ कर नव में देव लोक में महा ऋद्धि वाले देव बने।

विजयसेन हर्षितहो अपने महलमें लौटा। सवेरे अन्य मुनिओं को पता चला। सारे नगर मे दुःख छा गया। अन्य मुनिगण इसे पाप की परिणति एवं कर्म की विचित्रता समझ कर वहां से चल दिए और आचार्य सनत्कुमारजी को सब वृत्तान्त कह सुनाया आचार्यजी इस पर दुःखी स्वर मे बोले—कर्म के लिए कुछ भी अकरणीय नहीं है। अत सदा सावधान रह संयम पालन मे लीन रहो।

कुछ ही दिनों बाद विजयसेन अनेक व्याधियों से आक्रांत हो गया। राज महल, समृद्धि के ढेर, रमणीय रमणियाँ, विस्तृत परिवार और सुख सज्जा के अनेक साधन होते हुए भी वह असहाय हो, मरणान्तिक असहनीय वेदना से दुःखी हो बालक की तरह रोने लगा।

मैंने 'जय को मार डाला' मात्र इसमें ही कृतार्थता का अनुभव करता हुआ वह दुःख पूर्वक कुत्ते की मृत्यु से मरा और महाघोर चौथी नरक में उत्पन्न हुआ। जहां दस सागरोपम का आयुष्य होता है।

इधर विजय सेन (अग्नि शर्मा) का जीव नरक की तीव्र वेदना सह आयुपूर्ण कर अनेक भवों में भटक कर सत्कर्म करके उसी माकंदी नगरी के कार्तिक श्रेष्ठी नाम के धनाढ्य सेठ के घर पुत्री रुप में उत्पन्न हुआ। अत्यंत सुन्दर होने से उसका नाम लक्ष्मी रक्खा गया। क्रमशः वह भुवन मोहन यौवनावस्था को प्राप्त हुई। कर्मयोग से एक दिन धरण और लक्ष्मी लग्नग्रंथी से ग्रथित दम्पति बने। धरण को लक्ष्मी प्राण से अधिक प्रिय थी। किन्तु लक्ष्मी अन्य पुरुषों के साथ धरण की तुलना कर 'मुझे योग्य पति नही मिला' ऐसा विचारती एवं सदा असंतुष्ट रहती थी।

एकबार धरण नगरमें लीलापूर्वक रथ चलाता जारहा था। तब एक संकीर्ण मार्ग में धरण और देवनंदी के रथ आमने सामने आ गये। दो रथ साथ में निकल सके ऐसा वह मार्ग नहीं था। रथ को पीछे हटाने के लिए दोनों में से कोई भी तत्पर नहीं था। विवाद बढ़ने पर एक वृद्ध श्रेष्ठि ने दोनों को रथ पीछे हटाने का निर्णय देते हुए कहा—अरे ! धनवान के बेटे हो इसलिए घमंड करते हो। किन्तु कभी एक पैसा भी कमाया है ? यह सुन दोनों उदास हो गये किन्तु हठवश दोनों ने प्रण किया कि 'एक वर्ष में जो अधिक द्रव्य उपार्जन कर लायेगा उसका रथ पीछे नहीं हटेगा। कई श्रेष्ठियों की साक्षी में दोनों ने पांच पांच लक्ष स्वर्ण मुद्राएं ली और व्यापार योग्य पदार्थ ले,

दोनों ही सार्थवाह बने और कमाने के लिए एक ने उत्तरापथ की ओर तथा दूसरे ने पूर्व देश की ओर प्रयाण किया।

लक्ष्मी दीखने में लक्ष्मी जैसी थी किन्तु बड़ी स्वेच्छाचारिणी और मायाविनी थी। अपनी इच्छाएं यहां पूर्ण न हों। यह समझ उसने भी धरण के साथ चलने का आग्रह किया। धरण भी उसे साथ ले चलने को सहमत हो गया।

निरन्तर प्रयाण करते हुए सार्थपति धरण ने एक वन निकुंज में गगनगामिनी विद्या से स्खलित विद्याधर से मार्ग में आपत्तियों से रक्षा करने योग्य कोई विद्या प्रदान करने की प्रार्थना की। विद्याधर ने धरण को 'व्रण संधानक' औषध देते हुए कहा—'हे उपकारिन्! कैसा भी गहरा घाव हो गा, यह औषध लगाने से शीघ्र ही रूझने लगेगा' यह कह हेम कुण्डल विद्याधर चला गया। धरण सार्थ के साथ आगे चला।

एक नरभक्षी सिंह को कालसेन नाम के पल्लीपति (जंगली जाति का नायक) ने मारा। मरते मरते सिंह ने ऐसा पंजा मारा कि कालसेन के सिर के पिछले हिस्से की सारी चमड़ी तथा मांस नष्ट हो गया। मूर्छित कालसेन को मरा समझ उसकी गर्भवती पत्नी भी जल मरने को हठाग्रही हुई। सारा समुदाय आतंकित एवं दुःखित था। इतने में धरण वहां सार्थ सहित जा पहुंचा। इस विषम परिस्थिति में उसने पानी मंगवा कर शीघ्र चमड़ी

को पूर्व स्थान पर जमाकर ऊपर से औषधि का लेप कर दिया। थोडी सी देर में ही कालसेन स्वस्थ होने लगा। स्वस्थ होने पर पल्लीपति धरण से बोला —

'ओ महापुरुष ! इस जीव को सबसे ज्यादा अपने प्राण प्यारे होते हैं। तुमने मेरे प्राण ही नहीं मेरी पत्नी और उसके गर्भस्थ शिशु के भी प्राण बचाये हैं। आज्ञा दीजिए मैं आपका क्या प्रिय कार्य करु'।

यदि तुम यह समझते हो कि प्राण से बढ़कर कुछ नहीं तो भविष्य में किसी के भी प्राण का हरण नहीं करना, ऐसी प्रतिज्ञा आप करें। मै इसी से प्रसन्न होऊंगा।

मैं प्रतिज्ञा करता हू कि जीवन भर प्राणी हिंसा नहीं करुंगा।

'धन्यवाद', कह कर धरण ने आगे की ओर प्रयाण किया निरन्तर प्रयाण करता हुआ वह आयास सन्निवेश मे आया। वहां कुछ दण्डपाशिक (राज पुरुष) एक मनुष्य को वध स्थान पर ले जा रहे थे। सार्थाधिपति धरण को देख वह मनुष्य बोला —

'मैं महाशर निवासी मोरिक नाम का चण्डाल हू। चोरी नहीं की फिर भी दुर्भाग्य से चोर बनाया गया हू। मुझे मरण की उतनी चिता नहीं जितनी कि अपने कुल के पूर्व पुरुषों द्वारा उपार्जित कीर्ति रक्षा की चिन्ता है। अत हे महा पुरुष ! मेरी

रक्षा करो मैं तुम्हारा शरणागत हूं।

यह सुन धरण उसको राज सभा में ले गया। वहां राजा से वृतांत कह सुनाया एवं मूल्यवान मुक्तामाला राजा को भेंट कर चण्डाल को छुड़ाया। उस नगर में कुछ व्यापारिक कार्य कर धरण अचलपुर नाम के महा नगर में आया। साहसपूर्वक व्यापार करते हुए उसने चार महीने तक वहां क्रय-विक्रय किया। पुण्योदय से वहां प्रचुर द्रव्य उपार्जन किया। आय व्यय देखने से ज्ञात हुआ कि एक करोड़ द्रव्य खर्च आदि निकाल कर बचा है। उसे अब स्वदेश लौटने की इच्छा हुई।

माकंदी नगर के योग्य पदार्थों का संचय कर उसने स्वदेश प्रति प्रस्थान किया।

हठवश कमाने निकाला था, फिर भी वह सदा परोपकारी एवं धर्म कार्यों के करने में भी तत्पर रहता। कहीं धन का तो कहीं समय का त्याग करने में उसे किंचित भी ग्लानि नहीं होती थी। लक्ष्मी को यह सब पसंद नहीं था, वह तो सदा अपने मन बहलाने में ही व्यस्त रहती।

मार्ग में धरण को अत्यंन्त कष्टों का भी सामना करना पड़ा। एक बार उसका सारा ही सार्थ लूट लिया गया। वह लक्ष्मी के साथ जंगल में जहां तहां भटका परन्तु स्वयं कष्ट उठाकर भी लक्ष्मी को कभी कष्ट नहीं होने दिया। फिर भी लक्ष्मी चोरों

साथ हो गयी। सोये हुए धरण पर चोरी का आरोप आया। जिस मोरिक चण्डाल को धरण ने बचाया था उसी ने धरण को प्राण दण्ड से बचाया। लक्ष्मी के गहने आदि उतार चोरों ने उसकी बुरी दशा की। धरण को लक्ष्मी की चिंता हो रही थी, जंगल में उसका समागम हुआ। धरण ने अपनी बीता सुनायी। लक्ष्मी दुःख का अभिनय करती बोली—मुझे चोरों ने लूट लिया है।

धरण बोला.—मेरा सब लूट गया, उसका मुझे उतना दुःख नहीं हुआ जितना तेरे वियोग का हुआ। दोनों ने वह रात आनन्द में वहीं बिताई। शबरपति की सहायता से उसे अपना सारा सार्थ वापस मिल गया। शबरपति ने हाथी के कुंभस्थल में उत्पन्न होने वाले मुक्ताफल, लंबे लम्बे हाथी दांत तथा उत्तम चमरी गाय के चामर धरण को दिए। अनेक नगरों में क्रय-विक्रय करता हुआ धरण वापस माकंदी में आया। श्रेष्ठि जनों से उसने कहा— पहले मेरे माल और द्रव्य की सही किम्मत कर लो, बाद में नगर प्रवेश करूंगा।

गिनने पर सवा करोड़ द्रव्य का माल एवं द्रव्यादि का लाभ धरण को हुआ ऐसा निर्णय हुआ और धरण का सम्मान के साथ नगर में प्रवेश करवाया गया।

देवनदी मात्र द्रव्य कमाई में ही ध्यान रखता था। किसी को

देना तो दूर रहा, आप भी पूरा खाता नहीं था। अवधि पूर्ण होने पर वह भी स्वदेश लौटा। उसने सोचा इतना द्रव्य तो तीन वर्ष में भी धरण नहीं कमा सकेगा।

देवनंदी को आया सुन श्रेष्ठि जनों ने उसके द्रव्य की भी गिनती की। उसे अर्धकोटि द्रव्य का लाभ हुआ था। सबने कहा इसने भी अच्छा धनउपार्जन किया है किंतु धरण को तो एक कोटि का लाभ हुआ है। तथा कई उत्तम वस्तुएं भी वह लाया है। यह सुन देवनंदी वहुत लज्जित हुआ। सब ने धरण को कहा-तुम अपना रथ पहिले निकालो ?

धरण ने कहा—छोड़ो जी, उस वाल चेष्टा मे अब क्या रक्खा है ? धरण सुख पूर्वक रहने लगा। तथा दानादि शुभ कार्य में द्रव्य को उदारता से लगाने लगा। कुछ समय वाद धरण फिर सार्थपति वना। क्रय विक्रय के अनेक पदार्थों को एकत्रित कर वह लक्ष्मी सहित फिर अर्थोपार्जन के लिए परदेश चला। वैजयन्ती नगरी में व्यापार करते हुए उसने अपरिमित द्रव्य प्राप्त किया। अब उसे द्वीपातर जाने की इच्छा हुई। एक वडा जल-पोत मोल लेकर अनेक पदार्थो से उसे भर दिया तथा शुभ मुहूर्त में अर्थियों को दान देकर और समुद्र की पूजा कर उसने जल मार्ग से द्वीपान्तरों की ओर व्यापारार्थ प्रयाण किया।

नारी का प्यार

द्वीपांतरों में भ्रमण कर धरण ने केवल धनोपार्जन ही नहीं किया अपितु दानादि परोपकार कार्यों में भी उसने अपने धन का सदुपयोग किया।

दुष्कर्म के योग से एक बार समुद्र में तूफान आया। यानपात्र में भगदड़ मच गई। यानपात्र में कुछ छोटी २ नौकाएं भी हुआ करती हैं। मौका पाकर धरणसे आखें बचाकर लक्ष्मी कुछ द्रव्यादि ले किसी अन्य पुरुष के साथ एक छोटी नौका लेकर धरण को वहीं छोड़, छिपकर निकल भागी। चिंता और व्यस्तता में धरण को इसका कुछ भी पता नहीं चल पाया। क्योंकि सभी अपने-अपने रक्षण के लिए प्रयत्न कर रहे थे। अनेक प्रयत्न करने पर भी जब यानपात्र वश में नहीं आया और टेढा हो डूब गया, तब एक मोटे लकड़े के आधार पर धरण टिक कर लकड़े के साथ ही बहने लगा। उसको सब से ज्यादा चिंता लक्ष्मी के बारे में थी। दूर से यानपात्र को लुढ़कते देख लक्ष्मी प्रसन्न हुई। लक्ष्मी किनारे आ सुवदन नामके युवक व्यापारी के पास रहने लगी। कुछ दिनो बाद धरण भी उसी किनारे आलगा और सामान्य वाणिज्य द्वारा समय व्यतीत करने लगा। वह लक्ष्मी की खोज में भी रहता था। पुण्य योग से उसे हर कार्य में लाभ ही लाभ होता था। स्वर्ण द्वीप की मिट्टी धरण कोसामान्य दामों में मिल

गई। उसका अनुमान था कि इस मिट्टी में शोधन करने से कुछ स्वर्ण अवश्य निकलेगा। भाग्यवश तपाते ही वह मिट्टी स्वर्ण बनने लगी। धरण ने इस मिट्टी की ईंटें बनाई। ईंट ढालने के सांचे में "धरण" ऐसा नाम लगवा देने से सब ईंटों में "धरण" नाम अंकित रहता था। बाद में नाम वाले दोनों हिस्सों को जोड़कर अग्नि में तपायी। ईंटों के मध्य में नाम होने से बाहिर कुछ भी दीखता नहीं था। ऐसे सैंकड़ों सुवर्ण संपुट बनाकर वह समुद्र किनारे आया। योगानुयोग सुवदन नामक युवक व्यापारी भी लक्ष्मी सहित यानपात्र ले वहां आया। धरणने सुवदन के यानपात्र द्वारा स्वदेश लौटने का सुवदन से निश्चित किया। यान मे सामान चढ़ाकर जब धरण यानपात्र में चढ़ा तो वहाॅ लक्ष्मी को देख वह आश्चर्य चकित एवं हर्षित हुआ। लक्ष्मी भी धरण को देख रोने लगी और बोली— हे आर्यपुत्र! आपके वियोग मे मैं आधी रह गई। आपकी बहुत खोज की किन्तु कोई सफलता नहीं मिली। अंत में इन सज्जन के यानपात्र द्वारा माकन्दी (स्वदेश) लौटने का विचार कर यहां आई हूं। भाग्योदय से यहां आप मिल गए है। मुझे इसकी बहुत प्रसन्नता है।

लक्ष्मी ने अपने ये भाव ऊपरी दिल से ही प्रकट किये थे अन्तर में तो उसे धरण को देख आश्चर्य, दुःख एवं क्रोधादि भाव उत्पन्न हो रहे थे। कपट भाव से ऊपरी अभिनय कर वह सुवदन को कहने लगी—

ये मेरे पति हैं, मैं इन्हीं की खोज में थी, आपके सहयोग से मुझे मेरे नाथ मिल गए।

सुवदन भी अवसरोचित व्यवहार करने लगा और बोला—अच्छा हुआ आप मिल गए। मेरे सिर पर एक बहुत बड़ा बोझ एवं उत्तरदायित्व आ गया था, वह आज हल्का हो गया।

समय पर यानपात्र में सब की समुद्र यात्रा शुरु हुई। लक्ष्मी तो धरण को हृदय से चाहती ही नहीं थी। सुवदन ही उसे अत्यंत प्रिय था। सुवदन को लक्ष्मी का लावण्य एवं धरण का धन अत्यन्त अभीष्ट था। एक अंधेरी रात को अवसर देख सुवदन और लक्ष्मी दोनों ने मिल कर धरण को समुद्र में फिंकवा दिया।

वैभव और विलास से मत्त सुवदन तथा लक्ष्मी धरण को सर्वथा भूल कर निःशंक हो समुद्र यात्रा करते हुए देवपुर आये। वहाँ समुद्र किनारे पर धरण को देख उन्हें अपनी आंखों पर विश्वास नहीं हो रहा था। धरण यान में प्रविष्ट हो उनके पास आया और उनकी कुशल क्षेम पूछने लगा। सुवदन तथा लक्ष्मी धरण को देखना भी नहीं चाहते थे, फिर भी ऊपरी प्रेम व्यवहार दिखलाते हुए प्रसन्नता पूर्वक कुशलता पूछी। तथा आपके बारे में अतिचिंतित थे ऐसा अभिनय पूर्वक कह—सुवदन अपने कार्य में लगा। लक्ष्मी ने कहा—

नाथ! अचानक ही मुझे निराधार छोड़कर आप कहाँ चले गए थे? मैंने आपका ऐसा क्या अपराध किया है? जो मुझे वार वार इतना तरसाते हो।

भोला धरण यह सुन गद् गद् हो बोला—

सुन्दरी! तू मुझे प्राण से भी अत्यन्त प्रिय है। तेरे लिए मैंने कितने कष्ट सहन किये हैं? यह या तो मेरी अंतरात्मा जानती है, या परमात्मा ही जानते हैं। प्रथम वार अपना सार्थ लूट लिया गया और अरण्य भ्रमण करते तूं भूख-प्यास एवं श्रम से व्याकुल हो मूर्छित हो गई थी तब मैंने तुझे मेरी बाहु की शिरा (नस) चिरकर रक्त पिलाया था। ऐसी कई बातों का तुझे पता भी नहीं है।

यह सब सुन 'आप कितने अच्छे हो' कहते हुए लक्ष्मी धरण को प्यार करने लगी। और पूछा—

आपने मुझे उत्तर नहीं दिया कि आप कहां चले गए थे?

धरण बोला—यानपात्र में मैं निद्रा में था उस समय क्या पता क्या हुआ, मैं समुद्र में जा गिरा।

अरे भगवन! यह कैसे हुआ? आश्चर्य और दुःख का अभिनय करती हुई लक्ष्मी बोली—

यह तो मैं भी समझ नहीं पाया। थका हारा मैं डूबने ही

वाला था कि आकाश मार्गसे जातेहुए हेम कुंडल नामक विद्याधर ने मुझे उठा लिया। परस्पर हमने एक दूसरे को पहचाना। मैंने उसे विद्या साधन में सहायता की थी और उसने मुझे व्रणसंधानक औषधि दी थी, पता है न ?

लक्ष्मी बोली— हां, फिर ?

उसने मुझे कई उत्तम रत्न दिए, और यहां देवपुर में लाकर छोड़ दिया। क्योंकि स्वदेश लौटने वाले को यहां अवश्य आना ही पड़ता है। मैं प्रतिदिन तुम्हारी खोज में यहां आया जाया करत था ! आज मेरे भाग्य जागे और तेरा संगम हुआ।

आपने बहुत कष्ट देखे। यहां कहां ठहरे हैं ?

मैं यहॉं टोपाशाह नामक श्रेष्ठी के यहां ठहरा हुआ हूं। वे बहुत सज्जन एवं दयालु पुरुष हैं। मेरे रत्न आदि भी वहीं पड़े हुए हैं।

सुवदन की योजनानुसार संध्या का भोजन समुद्र तट पर ही बनाया गया। फलों के रस और आसव में चंद्रहास मदिरा मिलाकर लक्ष्मी ने धरण को पिला दी। थोड़ी देर में ही धरण का सिर चकराने लगा। वह वहीं लेट गया और उसकी चेतना धीरे धीरे मंद होने लगी। उसी समय लक्ष्मी ने धरण के गले में फंदा डाला। धरण यह सब देख रहा था किन्तु प्रतिकार

करने की उसमें चेतना नहीं थी। इतने में लक्ष्मी और सुवदन ने मिल कर रस्सी को बल पूर्वक खींचा। खीचने ही धरण गहरी मूर्छा से मरा सा हो गया। उसे मरा समझ सुवदन ने उसे समुद्र किनारे पटक दिया और लक्ष्मी सहित यानपात्र में बैठ आगे की ओर प्रस्थान कर दिया।

टोपाशाह ने धरण की खोज मे अति प्रातः काल ही मनुष्य भेजें। उन्होंने रे ी में पडे हुए धरण को देख शीतोपचार किया। धरण होश में आया और जिसे वह अपने प्राण से भी अधिक चाहता मानता था, उस लक्ष्मी के बारे में सोचता हुआ वह टोपाशाह के यहां आया। टोपाशाह ने पूछा, कल कहाँ चले गए थे ? संध्या भोजन को भी नहीं आये ? पत्नी का पता लगा ?

यह सुन धरण ने सारे समाचार कह सुनाए। धरण के मना करने पर भी दुष्टों को दण्ड मिलना ही चाहिए' कह कर वे राजा के पास गए। तुरंत ही त्वरित गति वाले यानपात्र द्वारा राजपुरुष सुवदन को जल पोत सहित ले आए और लक्ष्मी सहित उसे राज सभा में उपस्थित किय ।

उसे राजा ने पूछा—सार्थवाह पुत्र ! सच बताओ यह धन (सुवर्ण ईंटो के संपुट) किस के हैं ?

प्रभु, यह मेरी कुलपरंपरा से मेरे पूर्वजों से अर्जित हैं।

और यह तरुणी ?

जी यह मेरी पत्नी है।

सुवदन का उत्तर सुन टोपाशाह लाल आँखें कर बोल उठे, मदन्तर असत्य। धन और नारी दोनों धरण के हैं।

यह सुन सुवदन बोला— अजी, अपूर्व ज्योतिषी दीखते है आप। कौन धरण ? मैंने तो यह नाम भी आज ही सुना है।

राजा बोले —धरण कौन है ? उसे यहां उपस्थित करो। धरण बुलाया गया। धरण को देखते ही लक्ष्मी और सुवदन का हृदय धड़कने लगा। भय की रेखाएं मुख पर स्पष्टतः झलकने लगी।

राजा बोले—सुन्दरी तुम इस धरण को पहचानती हो ?

वह बोली—अन्नदाता। बिलकुल नहीं पहचानती। न आज से पहले कहीं देखे ही हैं इन्हें !!

राजा ने धरण से पूछा—यही है न तुम्हारी भार्या ?

देव, आपने इसका उत्तर सुन ही लिया है, थी किसी समय पत्नी, पर अब नहीं है।

अच्छा, यह सुवर्ण संपुट तुम्हारे हैं, तो इसकी संख्या बताओ। राजा के ऐसा पूछने पर धरण बोला—

मुझे पता नहीं मैंने इसे बनाकर गिनती नहीं की।

तुम्हारा माल और तुम्हें संख्या का पता नहीं ? अच्छा, सुवदन ! तुम बताओ यह संपुट कितने हैं ?

देव ! मैंने गिना नहीं । पूर्वजों के समय की हैं। यह सुन राजा ने कहा अब इसका क्या उपाय ? न्याय कैसे करु ं।

धरण ने कहा राजन् ! मुझे कुछ नहीं चाहिए। पत्नी और धन इसे ही ले जाने दो। मुझे अब इन दोनों की आवश्यकता भी नहीं है।

अरे, बड़ा दाता बन रहा है। मेरी वस्तु है, इसे मैं न ले जाऊंगा तो कौन ले जाएगा ?

यह सुन टोपाशाह बोले— देव ! धरण झूठ बोले ऐसा नहीं है। यह महाधूर्त शिरोमणि और यह नारी कुलटा ज्ञात होती है। दिव्य किया जाय तो अभी पता चले, कौन सच्चा और कौन झूठा।

यह सुन धरण बोला—यदि श्रेष्ठीजी का आग्रह ही है तो दिव्य के बिना अन्य भी कई उपाय हैं सत्या सत्य निराकरण के।

सब बोल उठे 'क्या है, जल्दी कहो'।

सब संपुट में मेरा नाम खुदा हुआ है।

सुवदन बोला— असत्य। देव। आप उन्हें मंगवा के देख सकते हैं। कुछ देर में ही राजपुरुष कुछ सुवर्ण संपुट लेकर वहां आये। जब उन पर कोई नाम नहीं दिखा तो राजा ने धरण से कहा—

कहां है नाम ?

देव। नाम बीच में है। यह दो ईंटों का संपुट है। नाम वाले दोनों हिस्सों को जोड़ दिया गया है। यह कह धरण ने संपुट का विभाग किया तो अंदर से 'धरण' ऐसा स्पष्ट खुदा हुआ नाम पाया गया। यह देखते ही राजा कुपित हो बोले— वणिकवेषधारी चोर ? पकड़ो इन दोनों को। इस दुष्ट को सूली पर चढ़ाओ और इस नारी को काला मुंह कर गधे पर बिठा सारे नगर में घुमा कर मेरी सीमा से बाहर निकालो तथा यानपात्रादि युक्त संपूर्णद्रव्य धरण को दे दिया जाय।

राजपुरुषों ने दोनों को बांधा। राजा ने धरण को कहा—

हे सज्जन। और कुछ कहना है तुम्हें।

देव यही कहना है कि सुवदन को अभय दीजिए। मुझे अब धन की कोई भूख नहीं। सब धरण के व्यवहार से विस्मित हुए। राजा ने कहा—मेरे राज्य में धूर्तों को यही दण्ड है। तुम्हारी महानुभावता से ही इसे छोड़ता हूँ। यह कह राज पुरुष के साथ

मैं द्वीपान्तरों से ३-४ दिन पूर्व ही लौटा हूं। श्री बंधुदत्त का पुत्र हूं।

अच्छा! लोग तुम्हे भाग्यवान कहते हैं।

जी लोग कहते हैं। क्योंकि लोगों के भाग्य नापने का माप-दण्ड धन ही है। सच तो यह है कि मैं धर्मकरणी से रहित निर्भाग्य शेखर हूं और जीवन के अमूल्य दिनों को व्यर्थ ही गंवा कर वापस लौटा हूं।

गंभीर मुख मुद्रा, नम्रता, ज्ञान, वचन विन्यास, योग्यता एवं वैराग्यादि विशेषता देखकर आचार्य देव ने धरण को संबोधित किया—

हे महाभाग! तुम संसार स्वरूप को एवं श्री जिनेश्वर देव के वचन को जानने वाले होकर क्यों उभय लोक को बिगाड़ रहे हो? यह कह आचार्य देव ने धरण को धर्म साधन युक्त मनुष्यत्व, जिनधर्म, धर्म श्रद्धा, संयमादि की उत्तरोत्तर दुर्लभता बताकर संयम की उपादेयता का उपदेश देते हुए उन्होंने अपना जीवन इस प्रकार सुनाना आरंभ किया :—

अचलपुर नरेश जितशत्रु राजा के अपराजित तथा समरकेतु नामक दो पुत्र थे। अपराजित तो युवराज था ही और समरकेतु को उज्जयिनी नगरी कुमार मुक्ति के लिए दी थी।

युवराज अपराजित एक बार युद्ध में समरकेतु को पराजित कर वापस लौट रहे थे। तब मार्ग में राधाचार्य से प्रतिबोध पा इन्द्र जाल जैसे मायावी संसार का त्याग कर वहीं आचार्य देव के पास दीक्षित हो गए। अल्प समय में गुरु कृपा से वे अनेक शास्त्रों एवं विद्याओं के ज्ञाता बने। एक बार गुरु निश्राय में विचरते हुए वे तगरासन्निवेश में ठहरे हुए थे।

उन्हीं दिनों आर्य राहुल के कतिपय शिष्य उस तगरा संनिवेश में आये। उचित स्वागत के बाद विहारादि उपसर्ग रहित एवं शाता से हुआ ? यह पूछने पर उन नये आये साधुओं ने कहा—

विहार में तो कोई कठिनाई नहीं हुई किंतु उज्जयिनी के राजकुमार एवं पुरोहित पुत्र अभद्र प्रकृति के हैं। वे साधुओं का परिहास करते हैं तथा उन्हें अति क्लेश भी पहुँचाते हैं।

यह सुन अपराजित मुनि सोचने लगे समरकेतु मेरा भाई होते हुए भी साधुओं की कदर्थना करता है तो दूसरों का क्या पूछना। मैं जाकर उसे समझाऊं यह सोच वे गुरु की आज्ञा ले उज्जयिनी पहुँचे और गोचरी के समय 'धर्मलाभ' कह कर महल में प्रवेश किया। स्त्रियों ने डर कर कहा —

भगवन्! अन्य घर जाइए। कुमार आपको उपसर्ग करेगा। यह न सुन कर वे बहुत जोर से 'धर्म लाभ' बोले। यह सुनते ही

राजकुमार एवं पुरोहित पुत्र ऊपर से नीचे आए। मुनि को देख उन्हें बड़ा आनन्द हुआ। दरवाजे बन्द कर बड़े अभिनय पूर्वक वंदन कर कहा—साधुजी थोड़ा नाचो।

बिना वाद्य गीत के नाचने में आनन्द नहीं आता - मुनि बोले

'हम गायेंगे बजायेंगे। आप तो नाचो' कह कर वे मृदंग-वीणादि बजाते हुए गाने लगे और मुनि नाचने लगे।

मुनि बोले— अरे, ग्वाल के बेटों! गाना बजाना तो पूरा आता नहीं और यूं ही पाण्डित्य बताने चले।

यह सुन दोनों कुमार मुनि को मारने दौड़े। यह देख मुनि ने दोनों के शरीर की संपूर्ण संधियां ढीली कर दी। जिससे उनका सारा शरीर चेष्टाशून्य हो गया। न बोल पाते न एक भी अंग को हीला पाते। द्वार खोल मुनि स्व स्थान में आए। अनेक प्रयत्न करने पर भी कुमारों की स्थिति न सुधरी तब परिवार के लोग आचार्य श्री के पास आए और सब समाचार कह सुनाया और मन में लज्जित हुए।

अपराजित मुनि बोले, यह हाल मैंने ही किया है। मुझे उन पर कोई द्वेष नहीं है, किन्तु तुम्हारे राज्य में मुनियों की कदर्थना हो यह अच्छा है क्या ?

प्रभु हम दोषी हैं अनुग्रह करो। अब ऐसा नहीं होगा।

नहीं, यदि वे दीक्षा लेवें तो मैं ठीक करुं अन्यथा जो ठीक लगे सो करो।

माता पिता बोले— हमारी तो अनुमति है। अब कुमारों को पूछना चाहिए पर वे तो मुंह भी खोल नहीं पाते।

चलो मैं चलता हूं, कह कर मुनि भी उन के साथ महल में आए। मात्र मुख का भाग ठीक कर दोनों कुमारों से पूछा—

मुनि की कदर्थना स्वरुप कर्मवृक्ष का यह तो पुष्प मात्र है, फल तो जब नरकादि में जाओगे वहां मिलेगा। यदि तुम्हें पश्चात्ताप होता हो, तो उस कर्मवृक्ष के लिए तिक्ष्ण कुठार स्वरुप प्रव्रज्या स्वीकार करो। तब मैं इस उपद्रव से छुड़ाकर परलोक की साधना में निरन्तर सहाय करुंगा।

हमें स्वस्थ कीजिए। हमारे दुष्कार्य से हमें अति लज्जा आ रही है। माता पिता की अनुमति हो तो हम चारित्र द्वारा आत्म कल्याण करना चाहते हैं।

दोनों कुमारों के ऐसा कहने पर उनके माता पिता बोले— हम सहमत हैं। तुम्हारी इच्छा हो तो हम क्यों अंतराय करें।

दोनों के माता पिता की अनुमति होने पर दोनों कुमारों को स्वस्थ कर उन्हें विधि पूर्वक दीक्षा दे, गुणवान तथा विद्वान बनाये। कर्मवश एक बार पुरोहित पुत्र को विचार आया कि हमें बला-

त्कार से दीक्षा दी गई है' यह सोच उसे गुरुजी पर कुछ द्वेष आ गया। इस पाप की निन्दा आलोचना किए बिना ही वह आयु पूर्ण कर, ईशान देवलोकमें देव उत्पन्न हुआ और दिव्य भोग में जीवन का काल व्यतीत करने लगा।

वहां उसके शरीर की क्रान्ति क्षीण होती हुई देख उसके च्यवन (आयुपूर्ण) होने के दिन समीप समझ देवांगनाओं तथा देवादि मित्रों ने उसका साथ छोड़ दिया।

देवाआयु पूर्ण होने का काल जानकर उसे बहुत दुःख हुआ। उसके परिवार ने भी उसका साथ छोड़ दिया। यह देख उसने सोचा मेरा मानना ही झूठा है। चलूं, भगवान पद्मनाभ को पूछुं, कि मैं कहां जन्मूगा तथा मुझे धर्म की प्राप्ति होगी या नहीं ? यह सोच पूर्वविदेह में विचरते भगवान के समीप जा उसने भगवान से उक्त प्रश्न पूछा। इस पर भगवान पद्मनाभ ने फरमाया—

तू भरत क्षेत्र की कौशांवी नगरी में जन्मेगा, किन्तु तू दुर्लभ बोधि है क्योंकि पूर्व भव में भी 'मुझे बलात्कार से दीक्षा दी' ऐसा सोच तूने गुरु पर द्वेष किया था। अतः बहुत प्रयत्नों के बाद बड़ी कठिनाई से तुझे बोध प्राप्त होगा। इस प्रकार कह भगवान ने उसे उसका सारा पूर्वभव कह सुनाया। अपना पूर्व भव सुन वह सोचने लगा—क्षणिक गुरुद्वेष का यह विपाक !

भगवान बोले यह थोडा ही है। हमें इस लोक के उपकारी को भी बहुमान की दृष्टि से देखना चाहिए, तो जो परलोक एवं भव परम्परा के उपकारी हैं उनकी तो बात ही क्या है? गुरुदेव मिथ्यात्व तथा अज्ञान को दूर कर उत्तम क्रियाओं में लगाते हैं, निरंतर सद् प्रेरणा कर आत्म संपत्ति के उपार्जन में आगे बढ़ाते हैं, और जन्म, जरा, मरण, रोग, शोकादि से छुटकारा दिलाकर संसार दुःख से छुड़ाकर शास्वत मोक्ष का सुख दिलाते हैं।

भगवन् मुझे कौन बोध देगा?

आगामी भव का भाई 'मूक' ही तुझे बोध देगा। उसका नाम तो अशोकदत्त है किन्तु दूसरा नाम 'मूक' प्रसिद्ध है।

प्रभु! यह नाम कैसे प्रसिद्ध हुआ।

भगवान बोले सुन—

कौशांबी नगर में तापस नाम का एक श्रेष्ठी रहता था। जो अत्यंत धनी होते हुए भी व्यापार कार्य नहीं छोड़ता था। दानादि धर्म करते हुए भी आर्तध्यान वश मर कर वह अपने घरके पासही सूअर बन जन्मा। भूमि आदि देख उसे जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। एक बार उसी के (पूर्व जन्म में तापस श्रेष्ठी) के श्राद्ध दिन पर उसी की नौकरानी ने बिल्ली द्वारा मांस ले चले जाने पर उसे ही मारकर भुन डाला। जिसका श्राद्ध हो रहा

आमंत्रित उसे ही चबा गए ?

सूअर मरकर पुनः अपने ही घर के समीप वाली भूमि में ही सर्प बना और पुनः घर के लोगों से मारा गया। मर कर वह अपनी पुत्र वधू की कुक्षि से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उचित समय पर उसका नाम अशोक दत्त रक्खा गया। नौकरानी, पुत्र वधु को एवं पुत्र को देख उसे जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। पुत्र वधु को मां एवं पुत्र को पिता कैसे कहूं ? यह सोच उसने संसार को धिक्कार देते हुए बोलना छोड़, सदा के लिए मौन धारण कर लिया। अतः सब उसे मूक (गूंगा) कहने लगे। इस प्रकार मौनावस्था में ही उसे बारह वर्ष बीत गए। एक बार चार ज्ञान के धारक मेघनाद नाम के मुनिवर वहाँ पधारे। मूक के उद्धार हेतु उन्होंने सुमंगल नाम के मुनि को मूक के घर भेजा एवं यह श्लोक उसको सुनाने को कहा—

तावस ! किमिणा मूणव्वएण ! पडिवज्ज जाणिऊं धम्मं।
मरिऊण सूअसेरग, जाओ पुत्तस्स पुत्तोत्ति ॥

हे तापस श्रेष्ठी इस मौन व्रत का क्या फल है ? अर्थात कुछ नहीं। अत अब धर्म को स्वीकार कर। बिना धर्म धारण करने के ही कारण सूअर, सर्प और पुत्र का पुत्र रूप तेरी अवस्था हुई।

सुनाकर मुनि ने उनसे कहा— मुझे गुरुजी ने यहां भेजा

है। यह सुनते ही मूक बोला— गुरु महाराज कहाँ है ?

मुनि बोले 'शक्रावतार चैत्य में'। दोनों की बातें सुन सारे परिवार को आश्चर्य हुआ।

मुनि के साथ 'मूक' और उसके पीछे उसका परिवार सब शक्रावतार चैत्य में आए और गुरु महाराज को वंदन किया।

आचार्य देव ने सब को 'धर्मलाभ' की आशिष दी।

प्रभु! आपने मेरा वृत्तांत कैसे जाना ?

भद्र! ज्ञान से जाना। अहो ऐसा ज्ञान महान है। ज्ञान का अतिशय बोलता हुआ तथा प्रशंसा करता अशोक दत्त वहा बैठा। गुरुराज के उपदेश से वह प्रतिबोध पाया किन्तु उसका 'मूक' नाम ही प्रचलित रहा। यही मूक तुझे प्रति बोधेगा। यह सुन वह देव कौशांबी में मूक के पास आया तथा उन्हें सारा वृतांत कह सुनाया। उनका हाथ पकड़ कर कहा मैं भावि जन्म में आप का छोटा भाई बनकर जन्मूंगा तब आप किसी भी प्रकार से मुझे धर्म मार्ग में प्रवृत्त बनाइयेगा।

मूक ने कहा मैं पूर्ण यत्न करुंगा।

अब देव मूक को वैताढ्य पर्वत पर ले गया और वहां सिद्धायतन की यात्रा करा कर कहा- मुझे यह सिद्धायतन और यह कुंडल बहुत प्रिय हैं। यह कुंडल यहां स्थापन करता हूं। इसे

देखने से आपको मेरे पूर्व भव का स्मरण और धर्म की प्राप्ति होगी। यह कह मूक (अशोकदत्त) को एक दिव्य मणि देते हुए देव ने कहा यह मणि जहां जाना हो वहां ले जाकर वापस स्व स्थान में लाने का सामर्थ्य रखती है। किन्तु यह एक बार ही काम करेगी। इसके सामर्थ्य से तुम मुझे इस प्रदेश में लाना जिससे मुझे धर्म की प्राप्ति होगी।

अशोकदत्त द्वारा यह सब स्वीकार करने पर देव मूक को पुनः कौशांबी छोड़ स्वस्थान चला गया। आयुपूर्ण होने पर वह देव बन्धुमती (अशोक की माता) की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। माता को शरद् काल में आम खाने का दोहद हुआ और वह न मिलने से वह प्रतिदिन सूखने लगी। यह देख लोग कहने लगे कि यदि दोहद (मनोरथ) पूर्ण न होंगे तो यह मर जाएगी।

मातृस्नेह से मोहित हो अशोकदत्त ने सोचा इस ऋतु में वैताढ्य पर्वत विना और कहीं आम्र मिलेंगे नहीं। यदि वहां से आम लाने हेतु इस मणि का यदि अभी उपयोग कर लूं तो यह मणि दुबारा काम नहीं देगी और मैं गर्भस्थ भाई को सिद्धायतन एवं कुंडल बताकर प्रतिबोध नहीं करा सकूंगा। फिर विचार आया कि यदि माता का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहा तो गर्भ की कुशलता भी कैसे रहेगी? तीर्थङ्कर भगवान का कहा कभी असत्य नहीं हो सकता। यह सोच दिव्य मणि द्वारा आम्रफल लाकर दोहद

पूर्ण किया। योग्य समय पर बालक उत्पन्न हुआ और उसका नाम अर्हद्दत्त रक्खा गया। कुछ बड़ा होने पर अशोकदत्त उसे प्रतिदिन जिन मंदिर एवं उपाश्रय ले जाने लगा। तथा मुनि राज के चरण में वंदनादि कराने लगा। किन्तु जिन मंदिर में जाने पर अर्हद्दत्त प्राय: रोने लग जाता, उसे यह सब रूचता नहीं था। बड़े होने पर उसे अशोकदत्त ने बहुत उपदेश दिया तथा पूर्व भव का सारा वृत्तांत कह सुनाया फिर भी अर्हद्दत्त को धर्म मार्ग पर रुचि उत्पन्न नहीं हुई। अहो कर्म परिणति! यह सोच अशोकदत्त ने तो दीक्षा ले आत्मकल्याण किया। तथा अर्हद्दत्त ने चार कन्याओं का पाणिग्रहण किया और विषय विलास में डूब गया।

निरतिचार संयमपाल अशोक मुनि देव लोक में देव उत्पन्न हुए। अर्हद्दत्त को भाई के देहान्त से बहुत शोक हुआ।

यहां देव बने अशोकदत्त के जीव को ज्ञान उपयोग से पूर्व भव का ज्ञान हुआ। उन्होंने विचार किया विषयादि में डूबा हुआ अर्हद्दत्त बातों से धर्म नहीं पायेगा। यह सोच देव ने उसके शरीर में अनेक व्याधियाँ उत्पन्न की। अर्हद्दत्त से यह वेदना नहीं सही जाती थी। अनेक वैद्यों से भी जब व्याधि का उचित निदान नहीं हुआ तो वेदनावश मरने की ठान अर्हद्दत्त ने कहा—

मैं मरना चाहता हूं! चिता जलाओ, मुझ से वेदना सहन नहीं होती। यह सुन सारा परिवार रोने लगा एवं चारों पत्नियाँ मूर्छित हो गईं। इतने में वह देव वैद्य का रूप धारण कर वहाँ आया और बोलने लगा— अरे भाई, यह धर्म वैद्य आया है। है कोई व्याधि ग्रस्त, मैं सर्व व्याधि का नाशक हूँ।

यह सुन अर्हद्दत्त के परिवार ने आदर सहित उन्हें बुलाकर कहा —जो मांगोगे सो देवेंगे, किन्तु तुम अर्हद्दत्त की समस्त व्याधियाँ दूर करो।

अजी आप क्या दोगे? मैं द्रव्यलोलुप नहीं हूं। मैं तो धर्म वैद्य हूं। अच्छा, इसकी व्याधि महा भयंकर और कष्ट साध्य है। अतः पथ्य संपूर्णतया पालना पड़ेगा।

आप जैसा कहोगे वैसा ही करूंगा। अरे बाप रे, यह दुःख तो सहन नहीं होता- अर्हद्दत्त बोला।

देखोजी! चिल्लाने से व्याधि का नाश नहीं होगा। औषध का सेवन और अपथ्य का त्याग करना पड़ेगा।

ओ मारे, मर गयारे। मैं सबकरूंगा। मुझे शीघ्र स्वस्थ करो।

अरे घबरा नहीं अभी स्वस्थ करता हूं! सुनो, पथ्य यह पालना है कि मिथ्यात्व का त्याग, प्राणिमात्र पर दया, सत्य भाषण करना बिना दिए कुछ लेना नहीं, ब्रह्मचर्य का सेवन

करना परिग्रह का त्याग करना और रात्रि को भोजन नहीं। सम्यक्त्व की सम्हाल, ज्ञान चरित्र का सेवन, जिनवचन श्रवण, स्वाध्याय सूत्र अर्थ अर्जन आदि में प्रमादाचरण करना नहीं। कषायों की मदता प्रयत्न से प्राप्त करनी। पर्वत, उद्यान, वनादि में वास करना। आरम्भ छोड़ देना। ऐसा करने से हे देवानु प्रिय ! तेरा भव भव का रोग नष्ट हो जायगा। यह सुन अर्हद्दत्त का परि-ार कहने लगा— मरने से तो यह श्रमण धर्म ही उत्तम माग है।

यह सुन अर्हद्दत्त बोला— अरे यह तो मृत्यु से भी कठिन कार्य है, पर क्या करु ? मुझे शीघ्र स्वस्थ करो।

अभी स्वस्थ करता हूं। किन्तु मैंने कहा उसमें प्रमाद न करना यह कह कर उसने हुंकार फुम्कारादि करना शुरु किया। थोड़ी देर में ही अर्हद्दत्त के शरीर से दुगन्ध निकलने लगी और वह स्वस्थ हो गया।

वत्स उठ ! मैंने पापकर्म रुप व्याधि से आंशिक रुप में तुझे छुड़ाया है। अब तू मानव जीवन के लिए कल्याणकारी उत्तम उपायों को स्वीकार कर जिससे जन्म-जरा-मरणादि महा व्याधि से तेरा छुटकारा हो। यह सुन लोगों ने पूछा वह कौनसा उत्तम उपाय है।

वैद्य ने कहा— जिन शासन की दीक्षा। यही उत्तम उपाय

से वह मिला।

वैद्य ने कहा— यह उपचार कराने के अयोग्य है, क्योंकि ऐसे विषयलोलुप और पुरुषार्थ हीन का यथायोग्य उपचार नहीं किया जा सकता।

बहुत समझाने पर धर्म वैद्य उपचार करने को तैयार हुआ और बोला— यह अंतिम चिकित्सा है, निरोग होते ही इसे मेरे औषध के थैले उठा कर मेरे साथ ही चलना पड़ेगा। अर्हद्दत्त द्वारा यह सब स्वीकार करने पर वैद्य ने पुनः उसे रोग मुक्त किया। औषध के थैले उठा कर अर्हद्दत्त वैद्य के साथ चला। लोगों ने एवं परिवार ने समझाया कि अब नीच पुरुषों का सा आचरण मत करना।

वैद्य के साथ अर्हद्दत्त बोझ उठा कर चला जा रहा था। तब मार्ग में वैद्य रूपधारी देव ने माया उत्पन्न की।

तीक्ष्ण कांटेवाले मार्ग से वैद्य जाने लगा तो अर्हद्दत्त बोला— पथ को छोड़ कर कॉटेवाले कुपथ में क्यों चलते हो।

जब तू यह जानता है तो धन पथ छोड़ घर क्यों चला जाता है? यह सुन वह चुप हो गया। आगे ग्राम देव को लोग पूज रहे थे। किन्तु देव मूर्ति बारम्बार सीधी रखने पर भी बारबार अधोमुख हो जाती थी। यह देख अर्हद्दत्त ने कहा—

देखो इसकी अधन्यता। यह सुन देव ने कहा—

जब तू यह जानता है तो ऊर्ध्वगति देने वाले पूजनीय मार्ग को छोड़ कर अधोगति देने वाले घर को क्यों भाग जाता है? यह सुन वह चुप हो आगे चला। उत्तम खाद्य को छोड़ समीप वर्ती दुर्गन्धमय अशुचि खाते सूअर को देख अर्हद्दत्त बोला—देखो इसका अविवेक?

देव बोला— जब तू यह जानता है तो उत्तम श्रमणत्व को छोड़ अशुचिमय संसारी विषयों में लुब्ध क्यों होता रहा?

वह चुप हो आगे चला। एक जगह अर्हद्दत्त ने देखा कि एक बैल जब कोमल वनस्पति को छोड़ सूखी घास खाने गया, तब वहाँ खड्डे में गिर जाने से उसकी हड्डियाँ टूट गयी। यह देख वह बोला—

देखो, बैल की मूढ़ता। यह सुन देव ने कहा—

यदि तू यह समझता है तो फिर और मोक्ष के सुख को छोड़ कर सूखे घास जैसे तुच्छ संसारी सुख की अभिलाषा क्यों रखता है। याद रखना यदि संसारी विषयों में लुब्ध रहा तो नरक रूप गड्ढे में ऐसा गिरेगा कि दुःख का कहीं अंत ही नहीं आएगा।

मार्ग में इस प्रकार के वार्तालाप होने पर अर्हद्दत्त को

प्रथम वारविचार आया कि यह धम वैद्य क्या कहते हैं। ये जो कह रहे हैं वह यथार्थ है या नहीं ? इनका व्यवहार कितना अच्छा है बिलकुल अशोकदत्त जैसा ही लगता है ? यह सोच वह बोला- भजी वैद्यराज जी ! आप मुझे मेरे भाई अशोकदत्त जैसे लगते हैं। वे भी मुझे ऐसी ही समझाईश की बात किया करते थे।

मैं अशोकदत्त ही हूं।

मैं कैसे मानूं ?

तू ने और मैं ने वैताढ्य पर्वत पर कुंडल गाड़ रखे हैं। चल वहाँ चलने पर विश्वास हो जायेगा। यह कह देव अपना मूल रूप बना कर उसे वैताढ्य पर्वत पर लाया। कुंडल एवं सिद्धायतनादि देख और सारी बातें सुन अर्हद्‌दत्त को जाति स्मरण ज्ञान हुआ। प्रतिबोध को प्राप्त कर अर्हद्‌दत्त ने भाव से दीक्षा ली। अपराध की क्षमा मांग देव स्वस्थान को लौट गया।

हे धरण मैं वही अर्हद्‌दत्त हूं। मैंने ही पुरोहित पुत्र के भव में गुरुद्वेष किया था जो बोधि मिलना दुर्लभ हो गया। अतः विराधना को छोड़ आराधना में तत्पर बनो। संयम विना विराधना से संपूर्णतया बचना कठिन है। यह सुन धरण बोला— भगवन ! आप यथार्थ कहते हैं। मेरी भी यही भावना है। मैं घर जाकर आता हूं। कदाचित माता पिता बोध पाएं तो बहुत लाभ हो जाए। यह कह धरण घर पर आया। माता पिता एवं

अनेक मित्रों सहित महोत्सव पूर्वक उसने दीक्षा ली और आत्म भावना में तत्पर बना। कुछ समय व्यतीत होने के पर योग्यता आने पर एकाकी विहार प्रतिमा स्वीकार कर ग्रामानुग्राम विचरते ताम्रलिप्ती नगर में आये। देश निकाला देने के बाद किसी प्रकार सुवदन लक्ष्मी को खोज लाया था। वे दोनों भी ताम्रलिप्ती में ही रहते थे।

एक बार संध्या काल हवाखोरी के लिए लक्ष्मी ताम्रलिप्ती के उसी उद्यान मे आई जहाँ धरण मुनि ध्यानस्थित बैठे थे। लक्ष्मी ने उन्हें पहचान लिया। उन्हें देखते ही उसे महाद्वेष उत्पन्न हुआ। अपने अलंकार उतार मुनि की झोली में डाल दिए और अपने कपडे फाड़ जोरों से चिल्लाई। अरे, बचाओ बचाओ, मेरा धन और लाज दोनों ही इस वेषधारी साधु ने लूट लिए। यह कह उसने जोर जोर से रोना शुरू कर दिया। कुछ ही समय मे बड़ी मात्रा मे आस पास के लोग एकत्रित हो गए। राज्य के सिपाही भी आ पहुँचे। साधु के वस्त्रों में आभूषण देख वे मुनि को पूछने लगे किंतु ध्यान मग्न मुनि कुछ बोले नहीं। कुछ राजपुरुष वहाँ ठहरे और कुछ ने जाकर राजा को सारे समाचार कहे। कुछ दिन पहले भी एक परिव्राजक ऐसे ही पकड़ा गया था। अतः राजा ने क्रोधित हो मुनि को वही मारने की आज्ञा दी। दण्डपाशिक ने सैंकड़ों नर नारी के बीच कहा— हे नर-नारी गण! पर द्रव्य हरण करने का यह फल है। अतः जो

कोई इस दुष्कार्य को करेगा राजा उसे ऐसा ही उग्रदण्ड देगा। यह कह उसने मुनि के गले पर तलवार का तीक्ष्ण प्रहार किया। किंतु देवयोग से वह तलवार अदृश्य हो गई और गगन से मुनि पर पुष्प वृष्टि होने लगी। 'धर्म की सदा जय होती है' लोग ऐसा कहते हुए मुनि के चरणों में पड़ने लगे। राजा ने भी आकर मुनि राज के चरणों में नमस्कार कर अपने अपराध की क्षमा मांगी और पूछने लगा कि इस स्त्री ने आप पर यह झूठा दोषारोपण क्यों किया इसे आप कड़े जैसा कठोर दण्ड दें। पर मुनि मौन ही रहे। मन्त्री ने कहा—

सार्थवाह पत्नी को पूछा जाय ? राजपुरुष उसे खोजने लगे, किंतु वह तो वहाँ से कभी की भाग गई थी। भागते हुए सुवदन को पकड कर राजा के समक्ष उपस्थित किया गया। राजा ने कहा— मैं तुम्हें अभय देता हूं। सच सच कहो, तुम्हारी पत्नी कहां गई और उसने इन मुनि पर यह झूठा दोषारोपण करने का कुकर्म उसने क्यों किया ?

धरण की उदारता, सुहृदयता आदि के अतिरिक्त त्यागी बनने पर भी उनके ऊपर द्वेष रखने वाली लक्ष्मी पर सुवदन को भी घृणा उत्पन्न हुई तथा अपने किए हुए कुकर्मों से पश्चात्ताप उत्पन्न हुआ। उसने राजा के समक्ष सच बोलते हुए कहा— लक्ष्मी मेरी नहीं किंतु इन मुनिराज की ही पत्नी थी इस प्रकार

लक्ष्मी सम्बन्धी सभी वृतान्त राजा को कह सुनाया। राजा ने सुवदन को छोड़ दिया। धरण मुनि को वंदन कर अपराध की क्षमा मांग सुवदन ने आचार्य मगुस्वामी के पास दीक्षा ली और आत्मसाधना में लीन बना!

राजा आदि मुनि को वंदन कर अपराध की क्षमा मांग नगर मे गए। दूसरे दिन मुनि भी अन्यत्र विहार कर गए।

मारे भय के भागी हुई लक्ष्मी को जंगल में चोरों ने पकड़ा। और उसके सारे आभूषणों के साथ कपडे भी उतार उसे नग्न कर दिया। रात्रि के समय नगर बाहर कुछ पुरोहित शांतिकर्म निमित्त होम कर रहे थे। पथिकों का समूह समझ लक्ष्मी वहाँ आश्रय निमित्त गई। उसको सर्वथा नग्न, बिखरे बालवाली तथा भय विह्वल देख लोगों ने उसे डाकिनी समझ जलती लकड़ियों से मारा। वह चिल्लाती हुई वहां से भागी। किसी गांव में प्रवेश न पाने से अनेक व्याधियों से ग्रस्त हो जंगल ही जंगल मे भटकती हुई अत्यंत कष्ट और क्लेश को सहती हुई, वह पांचवीं नरक में उत्पन्न हुई, जहां सत्रह सागरोपमका आयुष्य है।

धरण भी सलेखना पूर्वक शुभ ध्यान से आयुपूर्ण कर ओरण नाम के ग्यारहवें देवलोक में अत्यन्त समृद्धिमान देव हुए।

सप्तम भव

श्रीषेण और विषेण

चंपा नगरी में अमरसेन नामक एक न्याय प्रिय एवं धर्मिष्ठ राजा राज्य करता था। उसके हरिषेण नाम का अत्यन्त प्रिय छोटा भाई था। दोनों भाइयों का पारस्परिक स्नेह अति प्रगाढ़ था।

अमरसेन राजा जयसुंदरी और युवराज हरिषेण हरिप्रभा नाम की पत्नी के साथ मानवीय सुखों का उपभोग करते हुए सुख पूर्वक समय व्यतीत करते थे।

धरण (गुणसेन) का जीव स्वर्ग समान देव आयु पूर्ण कर जय सुंदरी के गर्भ में उत्पन्न हुआ और लक्ष्मी (अग्निशर्मा) का जीव नरक आयु पूर्ण कर अनेक भवों में भटक कर दुःख को सहते हुए अकाम निर्जरा से युवराज हरिषेण की पत्नी हरिप्रभा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ।

समय पूर्ण होने पर दोनों के बालक हुए। जयसुंदरी के पुत्र का नाम श्रीषेण तथा हरिप्रभा के पुत्र का नाम विषेण

रक्खा गया।

पुरुषचन्द्र नाम के एक महा ज्ञानी आचार्य के समागम तथा जिन वचन श्रवणादि से राजा अमरसेन को संसार वास कारावास सा प्रतीत हुआ। वैराग्य पुष्ट होते ही उन्होंने युवराज हरिषेण का राज्याभिषेक किया और श्रीषेण को युवराज पदारूढ़ किया। महादान एवं महोत्सव पूर्व अमरसेन राजा ने अनेक मंत्री, तथा सामंतों सहित पुरुषचन्द्र गणी के पास दीक्षा ली और आत्म कल्याण मे तत्पर बनें।

नये राजा हरिषेण भी न्याय पूर्वक प्रजा का पालन करने लगे। उनके हृदय में श्रीषेण और विषेण मे कोई अन्तर नही था। किन्तु श्रीषेण का अत्यन्त प्रेम भरा व्यवहार होते हुए भी, विषेण सदा श्रीषेण का अशुभ ही चाहता रहता था।

ज्यों ज्यों वे दोनों बड़े होते गए त्यों त्यों श्रीषेण का स्नेह तथा विषेण का वैर भी बढता चला गया। एक में गुण और दूसरे में अवगुण बढ़ने लगे।

उपवन मे बिना ऋतु फल लगे देख, विद्वान् राज्य ज्योतिषी ने मंत्री को कहा— असमय में ये वृक्ष फलवान् होने का अर्थ यह है कि राज्य क्रान्ति होगी। शत्रु अधिकार जमायेगा किन्तु अल्प समय में उसका प्रभुत्व नष्ट होगा। यह सुन मंत्री चिंतत हो राजकार्य में जागरूक रहने लगे।

राज्यपुर नरेश शखराज की पुत्री शांतिमती अद्भुत रूपवती, गुणवती एवं चतुर थी। अनेक राजपुत्रों की चाह होते भी शंख राजा ने हरिषेण राजा को श्रीफल भेजा तथा कहलवाया कि दोनों बालकों में से जो भी योग्य लगे उसके साथ मेरी कन्या की सगाई करके अपने स्नेह संवन्ध को सुदृढ करें।

मन्त्रि आदि की सलाह ले राजा ने श्रीषेण के लिए श्रीफल स्वीकार किया और दोनों के सम्बंध की घोषणा की। यह सुन विषेण को बहुत दुःख हुआ उसके दिल में द्वेषाग्नि बढ़ने लगी।

समय पर श्रीषेण कुमार के शांतिमती के साथ बड़े समारोह से लग्न हुए। कामदेव और रति जैसी युगल जोड़ी देख सब मुग्ध हुए तथा मुक्त कंठ से उनकी सराहना की। मात्र विषेण ही ऐसा था, जिसको दोनो की यह युगल जोडी नहीं सुहाती थी।

श्रीषेण शांतिमती के साथ, नौका विहार, उपवन क्रीड़ा एवं विलास में मग्न रहने लगा। यह देख विषेण की द्वेषाग्नि इतनी प्रज्वलित हुई कि उसने श्रीषेण को मार डालने के लिए मनुष्य नियुक्त किए, किन्तु वह सफल नही हुए।

एक वार संध्या समय शांतिमती सहित श्रीषेण एक उपवन में टहल रहा था। इतने मे वहाँ चार सन्यासी आये। दोनो

ने उन्हे नमस्कार किया। कुमार कुशल पूछने लगा, शांतिमती दासी एवं सखियों सहीत विश्राम घर में चली गई। बात करते करते अवसर देख उन सन्यासियोंने अचानक तलवार खींच श्रीषेणकुमार पर घातक प्रहार कर दिया। चतुर और निपुण कुमार ने भी चपलता पूर्वक तलवार खींच चारों को परास्त किया। इतने में अंगरक्षकों ने चारों को घेर कैद किया और राजा के समक्ष उपस्थित किया। युवराज को जंघा में गहरा घाव हो जाने से सारे अंतः पुर में भगदड़ मच गई थी। शांतिमती अविरत अश्रु बहा रही थी।

कुछ दिनों में घाव सूख जाने पर युवराज की ओर से राजा ने अभियोग चलाया। वेश के विरुद्ध वर्तनकारी चारों संयासिओं को न्याय शास्त्री ने मृत्यु दण्ड दिया।

युवराज ने बहुत यत्न से संन्यासियों को यह कह कर रिहा करवाया कि ये संन्यासी हैं उनकी ओर से मैं क्षमा मांगता हूं एवं क्षमा देता हूं। छोड़ दिए जाने के बाद युवराज ने उन संन्यासियों से पूछा, सही बतलाओ, क्या बात है ?

पश्चात्ताप के आंसू बहाते हुए वे बोले— द्रव्य के प्रलोभन से विषेण कुमार ने हमें यह दुष्कृत्य करने को उद्यत किया है।

युवराज को इस बात पर विश्वास नहीं हुआ। किन्तु राज पुरुष द्वारा यह बात राजा ने जानी तो उन्हे विषेण पर बहुत

क्रोध आया। किंतु युवराज ने टब यह कहा कि कई लोग विषेण को हलका दिखाने के लिए यह दुष्प्रवृत्ति कर रहे हैं। सचमुच तो विषेण मेरा बड़ा आदर करता है। यह सुन सब को श्रीषेण पर ज्यादा प्रीति एवं विषेण पर तिरस्कार उत्पन्न हुआ। क्योंकि विषेण के अवगुण चतुर पुरुषों को स्पष्ट दीखने लग गए थे।

घाव पूर्ण भर जाने पर जब युवराज स्वस्थ हो गये तो राजा ने आन्दोत्सव का आयोजन किया। विषेण के सिवा सारी नगरी हर्षोन्मत्त हो रही थी। राज परिवार सहित सारी प्रजा आनन्द मनाने उपवन में आई थी। विषेण को न देख श्रीषेण ने राजा को कहा— विषेण के बिना सारा आनन्द ही अधूरा रहेगा। कहाँ है वह ?

होगा कहीं, छोड़ उसका नाम। उसे आनन्द नहीं सुहाते।

मैं अभी बुला लाता हूं। कहकर युवराज घोड़े पर चढ़ विषेण को बुलाने चला। हरिषेण सोचने लगे—यह युवराज जितना भोला है उतना ही विषेण धूर्त एवं दुष्ट है।

युयराज ने देखा कि विषेण स्नानादि रहित नाराज हो लेटा हुआ है।

अरे, सारी नगरी आनन्द सागर में कल्लोल कर रही है, और तू रोगी की तरह गंदा और हतप्रभ हो यहाँ पड़ा है। उठ

तेरे बिना मुझे कैसे आनन्द आयेगा ऐसा कह युवराज उसे अपने साथ उद्यान में लाया।

इस तरह आनन्द में श्रीषेण का तथा दुःख और जलन में विषेण का काल बीतने लगा।

एक बार कौमुदी उत्सव होने से राज परिवार सहित समस्त नगर जन उद्यान में गए हुए थे। वे सब आनन्द में डूबे हुए थे, वहाँ अचानक कोलाहल उत्पन्न हुआ। बचाओ ... बचाओ! भागो ... भागो! राजहस्ती मदमत्त हो पागल हो गया है। नगर की कई दुकानो को नष्ट भ्रष्ट कर उपवन के वृक्षों को उखाड़ता हुआ चला आ रहा है।

सब भयभीत हो उठे। शांतिमती श्रीषेण कुमार के समीप दौड गई। विषेण को इस युगल जोड़ी का यह स्नेह देख भारी जलन पैदा हुई।

उस उपवन में हाथी के आते ही लोग चिल्लाते हुए भाग खडे हुए। श्रीषेण ने आखे फाड़ते हुए बड़ी तेजी से सिंहनाद किया। यह सुनते ही हाथी का मद गलित हो गया। कुमार की आखों से ही वह भयभीत हो गया। बिजली जैसी चपलता वाला कुमार अंकुश ले त्वरा से हाथी के स्कंध पर जा बैठा और कुशलता से नियंत्रण कर उसे आलान स्तंभ से बांध दिया।

शांतिमती स्नेह सिंचित दृष्टि से देखती हुई कुमार पर पुष्प बरसाने लगी, पौरांगनाओं ने भी कुमार पर पुष्प बरसा कर प्रमोद प्रकट किया तथा चारों तरफ कुमार श्रीषेण का जय जय-कार होने लगी। यह देख विषेण कुमार के अंतः करण में ईर्ष्या की आग जल उठी और उसने निश्चय किया कि मैं अल्प समय में ही इसका घात करुंगा।



विषेण का विषाद

एक दिन श्रीषेण शांतिमती के साथ उपवन के लतागृह में आमोद प्रमोद में मग्न था। प्रणय मग्न दम्पत्ति से दास दासियाँ दूर थे। अवसर देख विषेण ने उस उपवन में प्रवेश किया तथा नंगी तलवार ले वह श्रीषेण पर झपट पड़ा किंतु चतुर शांतिमती ने अपने गोद में सिर रख कर लेटे कुमार को कहा आर्य पुत्र! यहां जरा संभल कर रहें, भय है, यह कह कह कर रानी ने उन्हें सावधान कर दिया।

श्रीषेण ने यह सुनते ही उछल कर तलवार निकाली, उस समय विषेण ने कुमार पर तलवार का जोर से प्रहार किया किंतु श्रीषेण ने उसके घातक प्रहार को तुरंत निष्फल कर एक ही झटके

में उसकी तलवार गिरवा दी। इस पर अत्यन्त क्रोधित हो विषेण ने छुरी निकाली। श्रीषेण ने उसके हाथ को मरोड़ कर छुरी भी छीन ली। हाथ मुड़ जाने से विषेण धड़ाम से पृथ्वी पर जा गिरा। उसे उठा कर कुमार ने पूछा- यहां तू कैसे आया ? यह तुझे क्या हो गया है आज ?

कुछ भी उत्तर दिए विना ही विषेण वहां से भाग गया। श्रीषेण ने शांतिमती से कहा— किसी खल पुरुष ने मेरे छोटे भाई के कान भर दिए लगते हैं। महाराज को इसके इस जघन्य कार्य का पता चलेगा तो वे इसे अवश्य ही कड़ा दंड देंगे। माताजी को भी इससे गहरा दुःख होगा और इसे भी बड़ी यातनाएं सहनी पड़ेगी।

नाथ ! मैं यह समझ नहीं पा रही हूं कि देवरजी ऐसा क्यों कर रहे हैं।

केवल राज्य प्राप्त करने के लिए किसी ने इसे बहकाया मालुम होता है। यहां रहना मुझे अब पसंद नहीं है। तुम्हारी व्यवस्था कर मैं देशान्तर चला जाऊंगा।

मेरी क्या व्यवस्था ? जहां चाँद वहां चाँदनी। मैं आप से जरा भी दूर रह न सकती।

उसी दिन रात्रि के अंधकार में शांतिमती सहित कुमार ने

चम्पा नगरी को छोड़ दिया।

सानुदेव नाम के सार्थवाह बड़े समुदायवाले सार्थ सहित ताम्रलिप्ती जा रहे थे। उनके साथ में कुमारभी पत्नी सहित जा मिला। सार्थवाह ने भी उच्चकुल के इस तेजस्वी युगल जोड़ी को देख बड़े सम्मान पूर्वक अपने सार्थ में रखा। कुमार द्वारा अपनी सारी बात बताने पर सानुदेव उनके प्रति और भी आदर भाव बरतने लगा। कुछ राजपुरुषों को घोड़े दौड़ाते बड़ी तेजी से आते देख कुमार ने सानुदेव को इशारा किया और पत्नी सहित स्त्रीवास में छिप गया।

अरे भाई! कोई युवान और सुन्दर दम्पति को इधर देखा है क्या? चम्पा के युवराज एवं युवराज्ञी बिना कहे कहीं शहर से चले गए हैं। खोजते खोजते थक गए हैं पर पता ही नहीं लग पा रहा है।

नहीं तो? हमने तो नहीं देखे।

न मालूम कहां चले गए। पृथ्वी निगल गई क्या? कहते हुए सिपाही वापस लौट गए।

निरन्तर प्रयाण करता हुआ सार्थ दंत रत्निका नाम की अटवी (जंगल) में प्रविष्ट हुआ। वहां के आदि निवासी लुटेरे भीलों ने भयानक कोलाहल पूर्वक सार्थ को लूटना शुरु कर

दिया। सैनिक व्यवस्था होते हुए भी सार्थ में अव्यवस्था एवं आतंक फैल गया। सार्थ के नरनारी नीतर वितर हो गए। यह देख श्रीषेण कुमार आगे आया और एक क्षण में ही तीक्ष्ण बाणों की बोछार शुरु करदी। सार्थवाह के रक्षक सम्हल गए और उत्साह बढ़ने से वे वीरता पूर्वक भीलों से लड़ने लगे। कुमार भी अपनी तलवार निकाल लुटेरे के सरदार से वीरता पूर्वक लड़ने लगा। कुछ देर में ही भील सरदार तलवार के प्रहारों से घायल हो भूमि पर जा गिरा और मूर्छित हो गया। तुरन्त ही सैनिकों द्वारा सारे भील लुटेरों को गिरफ्तार कर उन्हें बांध दिया गया। और शेष जंगलों में भाग गए।

सार्थवाह एवं सारा सार्थ आनन्द में मग्न हो, मनुष्यों को, पदार्थों को एवं पशुओं की सम्भाल मे लग गया। युद्ध भूमि में मात्र भील सरदार तथा श्रीषेण दो ही रहे। भूमि पर अचेत पड़े हुए भील सरदार को पानी पिला कर श्रीषेणकुमार वायु ढालने बैठा। चेतना आने पर आंखें खोलते ही कुमार की सुहृदयता देख भील सरदार सोचने लगा—

सच है ये महापुरुष हैं। सुकुमार होते हुए भी दृढ़ प्रहारी है तथा अकेला होते हुए भी केशरी सिंह सा पराक्रमी है। काम देव सा रूपवान और मुनि कुमार सा दयालु है। शत्रु के लिए भी यह मित्र है। उसे सचेत देख कुमार ने कहा— सरदार अब

स्वस्थ हो न ?

तुमसे मतिमान और बलवान योद्धा के सामने कौन स्वस्थ रह सकता है ?

चिंता न करो तुम जहां तक स्वस्थ हो हथियार नहीं उठाओगे, मैं भी तुम पर कोई प्रहार नहीं करुंगा।

हे वीर कुमार ! तुमने मुझे जीत लिया है, अब मुझे अभय दीजिए !

मैंने तुम्हें जीत लिया, यह मान भी लेवें, तो भी मैंने तुम्हारे पराक्रम को नहीं जीता है। जो हमारे सामने आयुध नहीं उठाता उसे हमारी तरफ से सदा अभय ही है।

आप महान है। मैं आपकी मित्रता चाहता हूं।

मै मित्र को गले लगाता हूँ। कह कर कुमार ने पल्लिपति (भील सरदार) को गले लगाया।

इतने में भागे हुए भील और भीलोंके साथी मारो मारो कहते वहां आ पहुँचे। पल्लीपति ने संधि सूचक वाद्य बजाया और युद्ध के अंत की उद्‌घोषणा की। जो जो पदार्थ लूटा गया था वह सब पल्लीपति की आज्ञा से वापस सार्थवाह तथा कुमार के आगे रख दिया गया। कुमार की जय जयकार हुई, सरदार

बोला—

कुमार, यहां समीप में ही मेरी पल्ली (रहने का स्थान) है। आप सब कृपा कर वहां पधारें।

कुमार ने कहा— जैसी सार्थवाह की आज्ञा हो, वही हमें स्वीकार है।

सानुदेव बोला— जहाँ, अभी अपन बैठे हैं, सब आप की ही तो पल्ली है।

बिखरा सामान तथा नर नारी वापस इकट्ठे होने लगे। इतने में स्त्रियों में से आवाज आई, अरे, राजवधु नहीं दीखती, कहां गई वे ?

यह सुन कुमार तथा सानुदेव सार्थवाह व्याकुल हो उठे। पल्लिपति ने पूछा— कौन राजवधु ?

सार्थवाह बोला— भद्र ! राजा शंख की पुत्री और इन चंपा के युवराज की पत्नी। कुमार, सानुदेव तथा भीलराज घोड़ों पर बैठ सारे वन प्रदेश में भटक आए किंतु कहीं शांतिमती का पता नहीं लगा। पल्लीपती की आज्ञा से आठों दिशाओं में भील सैनिक शांतिमती की खोज में गए, पर वे सब धीरे धीरे निराश हो लौटने लगे। कुमार के विषाद की सीमा न रही। वह बार बार निःश्वास डाल शून्यमनस्क होने लगा। इस प्रकार

सारा दिन बीत गया। किसी ने भी मुंह में पानी तक नहीं डाला। सब चिंता से व्याकुल थे। पल्लीपति बोला— आप चिंता न करें। मैं अवश्य देवी को खोज लूंगा। किंतु यह कार्य श्रम और समय साध्य है। सुबह से किसी ने कुछ नहीं खाया है, अतः आप लोग भोजन कीजिए।

सबके आग्रह से कुमारादि ने भोजन किया। बहुत रात्रि बीतने पर सब लेटे। निद्रा तो किसी को नहीं आई थी। इतने में समीपवर्ती विश्वपुर की राज सेना ने उस भील नगरी पर अचानक धावा बोल दिया। भील राज भी अपनी सेना सहित युद्ध में जा डटा। कुमार भी मित्र की सहायता के लिए तैयार हो जाने लगा। उसने सार्थवाह से कहा—

आप व्यापारी हैं। हमारे साथ समय नष्ट करना आप के लिए योग्य नहीं। यहाँ किसी ने आक्रमण किया है। अभी सेना दूर है। आप प्रयाण कर जाइए। आगे मुझे यहीं खोजना। आग्रह पूर्वक यह कह सार्थवाह को तो विदा किया और वह धनुष बाण ले पल्लीपती की सहायता के लिए चल दिया।

दो पर्वतों के मध्य में विश्वपुर नरेश की सेना से पल्लीपति अपने भील सैन्य सहित वीरता से लड़ रहा था। कुमार के आते ही भील सेना में उत्साह की लहर दौड गई। कुमार भी बहुत कुशलता एवं शौर्य से जूझने लगा किंतु बहुत बड़ी संख्या

वाली विश्वपुर की सेना ने अल्प समय में ही कुमार एवं पल्लीपति को कैद कर लिया। विश्वपुर लाकर उन्हें राज सभा में उपस्थित किया गया। उन्हें देख राजा को क्रोध आया। वह बोला— इस अरण्य में तुम लोगों ने बड़ा उपद्रव मचा रक्खा है। बहुत दिनों के प्रयत्नों के बाद आज तुम पकड़े गए हो। यह जवान तो दीखने में बड़ा बलवान और समझदार ज्ञात होता है। किंतु कैसा भी हो, लुटेरे का साथी लुटेरा ही माना जाता है। तुम लोगों पर अभियोग चलाया जाएगा।

इतने में ही सार्थवाह सानुदेव मूल्यवान भेंट लेकर राज सभा में आया। राजसिंहासन के सामने कुमार एवं पल्लीपति को बंधे हुए और अपराधी अवस्था में देख वह मूर्छित हो गिर पड़ा।

विश्वपुर के राजा समरकेतु सार्थवाहकी यह हालत देख चिंतित हो गए और वैद्यों को बुला उपचार करवाया।

होश में आते ही सानुदेव बोला—

महाराज! ये चम्पानगरी के युवराज श्रीषेण हैं, इन्हें बंदी क्यों बनाया गया? ये तो महापराक्रमी और परोपकारी हैं। आदि कह उसने श्रीषेण के सम्बन्ध में तथा पल्लीपति के बारे में शुरु से लेकर अंत तक सारी बात कह सुनाई और शांतिमती के खोजाने [illegible] भी कही। यह सुन विश्वपुर के समरकेतु को

दुःख एवं श्रीषेण को सन्मानित कर बड़ा आनन्द हुआ। तुरन्त ही दोनों को मुक्त किए और आग्रह पूर्वक कुमार को अपने पास रक्खा। वहां कुमार को कोई दुःख नहीं था, किंतु शांतिमती का विरह उसके लिए असह्य था। सानुदेव, पल्लीपति और समरकेतु के गुप्तचर शांतिमती की खोज में बराबर लगे हुए थे। कुमार भी निरन्तर इसी प्रयत्न में लगा हुआ था।



प्रिय मेलक

श्रीषेण का पल्लीपति के साथ युद्ध हुआ, उस समय सार्थ का सारा समूह ही बिखर गया और सब अपनी अपनी रक्षा के प्रयत्न करने लगे थे। उस समय अन्य स्त्रियों के साथ शांतिमती भी वन की गहराई में जा पहुँची थी। वहाँ वह बिछुड़ गई। मारे घबराहट के मार्ग भूल गई और ज्यों ज्यों तेजी से भागने लगी त्यों त्यों वन की गहराई में जा पहुँची।

ना......थ? स्वा . मी? आ ...र्य पु.......त्र? आप कहां हो? यूं चिल्लाती हुई शांतिमती बावरी हो जंगल में भटकने लगी। उसके चौधार आंसू और विकलता देख वन के

पशु पक्षी भी स्तब्ध हो गए। अंत में उसका कंठ बैठ गया, पैर थक गए, आंखों में अंधेरा छाने लगा, तृषा से मुख सुख गया। उसके पैर लड़खड़ा उठे और 'प्राणाधा .... र' कहती हुई वहीं पृथ्वी पर जा गिरी और मूर्छित हो गई। कुछ चेतना आती तो 'प्रियतम, कहाँ हो'? कह फिर मूर्छित हो जाती। इस प्रकार कुछ दिन बीतने पर एक तपोवन के दो ऋषिकुमार उस वन में आये। शांतिमती को देख दोनों चकित हो गए। अद्भुत लावण्य मयी सर्वांग सुंदरी नव युवती को देख वे सोचने लगे- इस भयानक अरण्य में ऐसी सुकोमल युवती का होना आश्चर्य की बात ही है। समीप आकर उन्होंने कमण्डल-से उसके मुख में पानी डाला तथा पवन आदि के उपचार से उसे सचेत किया। आंखें खोलने से पहले ही वह बोल उठी- जीवना- धार, कहाँ हो?

भद्रे! शोक मत करो हम ऋषिकुमार हैं। हमसे भय का कोई कारण नहीं। उठो और हमारे योग्य सेवा बताओ।

यह सुनते ही शांतिमती आंखें खोल वस्त्र संकोच बैठ गई और बालक की तरह बिलख बिलख कर रोने लगी। कुछ देर बाद ऋषिकुमारों से सांत्वना पाकर उसने अपने पति वियोग की कहानी-कह सुनाई।

तुम्हारे पति की हम खोज करवायेंगे। कुछ दूरी पर हमारा

तपोवन है, तुम वहां चलो। तुम्हारी सुरक्षा की सब व्यवस्था वहां हो सकेगी। यह कह दोनों ऋषि कुमार शांतिमती को अपने तपोवन मे ले आये। तपोवन में आकर कुलपति को प्रणाम कर वहां भी शांतिमती खूब रोई। शरीर के उत्तम लक्षण देखकर, कुलपति उसके प्रति बोले—

बेटी! कुछ समय बाद तुम्हें अपने पति का अवश्य मिलन होगा। तुम धीरज से काम लो। आदि मधुर शब्दों से उसे सान्त्वना देकर उसे तपस्विनिओं को सौंप दिया। वहाँ वह वृक्ष को पानी पिलाने या खरगोश हरिणों का देख भाल आदि में अपना समय बिताने लगी। श्रीषेण की याद तो एक क्षण के लिए भी उसे विस्मृत नहीं होती थी। पशु एवं पक्षिओं को ही नहीं भ्रमर को भी वह पूछ लेती— मेरे स्वामी को कहीं देखे हैं? कहां है वे? कब आयेंगे? क्या उनकी भी यही स्थिति है? कभी वह नींद में चिल्ला उठती— आर्यपुत्र! कहाँ हो? और कभी तो वह ऐसी रोती की आश्रम वासी तपस्वियों की आंखें भी अविरल अश्रु पूरित हो जाती। रोज संध्या तक वह पति या उनके समाचार की ही राह देखती रहती। आश्रम में लौटे ऋषि कुमारों को ही नहीं वह गायों को भी श्रीषेण के बारे में पूछती। अंत में निराश हो खूब रोती और रोते रोते ही सो जाती। एक बार वह प्रियमेलक वृक्ष के तले बैठी थी; उस समय उसका बायांअंग फड़कने लगा। आज अवश्य प्रिय मिलेंगे या उनके

महाराज ! मेरे लिए भी आपका वियोग दुःसह सा ही है।

तब वचन दो। तुम जो कहोगे, वह करूंगा।

महाराज ! मुझे कोई महत्वाकांक्षा नहीं है। आपसे पूछे बिना मैं कहीं नहीं जाऊंगा, मैं वचन बद्ध होता हूं। दोनों एक दूसरे से लिपट गए। उनकी मैत्री निःस्वार्थ होने से ऐसी गहरी थी कि एक दूसरे के बिना परस्पर का अस्तित्व ही असंभवित प्रतीत होने लगा। आनन्द प्रमोद में उनका समय बीतने लगा।

एक बार दोनों मित्र राजसभा में विनोद मुद्रा में प्रसन्न बैठे थे। तब एक प्रतिहारी ने नमस्कार कर निवेदन किया कि चम्पानगरी के मंत्रीपुत्र अमरगुरू कुमार श्रीषेण से मिलना चाहते हैं। आज्ञा की आशा में द्वार पर खड़े हैं।

श्रीषेण बोला— शीघ्र भेजो !

जो आज्ञा। कह कर प्रतिहारी ने वापस लौट अमरगुरु को सादर राज दरबार में प्रवेश कराया। राजा एवं कुमार को प्रणाम कर वह योग्य आसन पर बैठा।

कहो मंत्रीपुत्र ! राजपरिवार एवं नगर जन सकुशल, स्वस्थ एवं सुखी हैं न ?

युवराज, अविनय की क्षमा चाहता हूं। किंतु हम लोगों के दुःख-सुख की आपको क्या चिंता ? आप तो कुशल हैं न ?

मैं तो अच्छा ही हूँ, किंतु ऐसा क्यों बोलते हो ?

अजी, न बोलूं तो क्या करूं ? हमारे सारे नगर जनों के दुःख की कोई सीमा ही नहीं।

मंत्रीपुत्र ? स्पष्ट कहो, मेरे होते हुए चंपा के किसी बालक को भी कोई नहीं सता सकता।

युवराज, आपके चले जाने के बाद महाराज हरिषेण ने आपकी बहुत खोज कराई, किंतु आपके कोई समाचार भी प्राप्त नहीं हुए। आत्म कल्याण के लिए उन्होंने राज्य वैभव एवं विलास को छोड दीक्षा अंगीकार कर ली। खोजने पर भी जब आप नहीं मिले तब आप न मिलें वहां तक के लिए, विषेण को राज्य दे दिया गया।

चलो, दोनो काम बहुत अच्छे हुए। पिछली वय में संयम ले काकाजी ने उत्तम आदर्श ही नहीं, हमारी उज्ज्वल परम्परा को ही निभाया है और विषेण भी दायित्व आ पड़ने से राज्य निपुण और दूरदर्शी बनेगा।

आप तो विषेण के प्रति सदैव बडे सहृदय रहे हैं। किंतु आप प्रथम मेरी बात सुन लीजिए। विषेण राजा बनते ही ज्यादा विलासी बन गया। वह प्रजा के विश्वास को भी खो बैठा और ... दिन मुक्तापीठ ने चं ा पर आक्रमण कर दिया।

समाचार की प्राप्ति होगी, ऐसा उसे लगा।

कुमार श्रीषेण, पल्लीपति, सानुदेव एवं राजा समरकेतु के गुप्तचरों के अथक परिश्रम से अततः शांतिमती का पता उन्हें लग गया। कुमार श्रीषेण पल्लीपति एवं राजपुरुषों को ले उसी प्रियमेलक वृक्ष के उपवन में आये। शांतिमती दूर से ही उन्हें पहचान गई और बावरी सी बन उनकी तरफ दौड़ी तथा हर्ष के आंसू बहाती हुई कुमार के पैरों मे सिर रख रोने लगी। कुमार की आंखें भी हर्षातिरेक से छलक आई। इस पावन दृश्य को देख सभी मंत्र मुग्ध थे। प्रियमेलक उपवन की अधिष्ठात्री देवी स्वयं वहाँ उपस्थित हुई और इस पवित्र मिलन से प्रसन्न हो उसने श्रीषेण को एक 'आरोग्य रत्न' दिया और कहा— इसे जल से प्रक्षालन कर, वह जल रोगी पर सींचने से कैसा भी रोग होगा, नष्ट हो जायगा। इतना भर कह कर अधिष्ठात्री देवी अन्तर्धान हो गई। कुलपति आदि ने शांतिमती और श्रीषेण को आशीर्वाद दिए और अश्रु पूर्ण नयनों से उन्हें विदा किया।

श्रीषेण ने शांतिमती सहित विश्वपुर में बडे सम्मान एवं स्वागत सामारोह पूर्वक प्रवेश किया। राजा समरकेतु एक क्षण भी श्रीषेण को नहीं छोड़ पाता, दोनों में परस्पर इतनी प्रगाढ़ प्रीति हो गई थी।

एक बार राजा समरकेतु किसी भयानक रोग से ग्रसित

ए। अनेक प्रयत्नों के बाद भी वह रोग नष्ठ नहीं हो पाया। राजपरिवार ही नहीं सारी प्रजा भी चिंतित थी।

एक बार शांतिमती ने श्रीषेण से कहा—

प्रिय! महाराज समरकेतु का शरीरावस्था दिन प्रतिदिन अति चिन्तनीय एवं गभीर होती जा रही है। एक बार इन पर उस 'आरोग्यरत्न' की परख करके तो देखीए। हो सकता है, महाराज का रोग उससे नष्ट हो जाय।

अरे, हां! अच्छा किया, तुमने 'आरोग्यरत्न' की याद दिलाई मैं तो उस महा रत्न को भूल ही गया था। देखो तो, वह आभूषणों के डिब्बे मे रक्खा होगा, जरा निकालो तो।

शांतिमती ने अभूषण-पेटीका मे से आरोग्य रत्न निकाल कर श्रीषेण को दिया। वह रत्न ले श्रीषेण समरकेतु के पास आ गा। वहाँ सारा परिवार चितिंत हो बैठा था। कुमार ने रत्न सिंचित जल राजा पर छिड़का एवं मुख मे डाला। दो तीन बार ऐसा करने ही राजा पूर्ण स्वस्थ हो गया और उस जल से स्नान करने के बाद संपूर्ण रोगमुक्त भी हो गया।

राजा बोले— श्रीषेण! आज तक तुम मेरे मित्र ही थे। किन्तु अब मुझे रोग मुक्त कर तुम मेरे प्राण दाता भी बन गए हो। वचन दो, अब मुझे छोड़ कर कहीं नहीं जाओगे।

महाराज ! मेरे लिए भी आपका वियोग दुःसह सा ही है।

तब वचन दो। तुम जो कहोगे, वह करूंगा।

महाराज ! मुझे कोई महत्वाकांक्षा नहीं है। आपसे पूछे बिना मैं कहीं नहीं जाऊंगा, मैं वचन बद्ध होता हूं। दोनों एक दूसरे से लिपट गए। उनकी मैत्री निःस्वार्थ होने से ऐसी गहरी थी कि एक दूसरे के बिना परस्पर का आस्तित्व ही असंभवित प्रतीत होने लगा। आनन्द प्रमोद में उनका समय बीतने लगा।

एक बार दोनों मित्र राजसभा में विनोद मुद्रा में प्रसन्न बैठे थे। तब एक प्रतिहारी ने नमस्कार कर निवेदन किया कि चम्पानगरी के मंत्रीपुत्र अमरगुरू कुमार श्रीषेण से मिलना चाहते हैं। आज्ञा की आशा में द्वार पर खड़े हैं।

श्रीषेण बोला— शीघ्र भेजो।

जो आज्ञा। कह कर प्रतिहारी ने वापस लौट अमरगुरु को सादर राज दरबार में प्रवेश कराया। राजा एवं कुमार को प्रणाम कर वह योग्य आसन पर बैठा।

कहो मंत्रीपुत्र ! राजपरिवार एवं नगर जन सकुशल, स्वस्थ एवं सुखी हैं न ?

युवराज, अविनय की क्षमा चाहता हूं। किंतु हम लोगों के दुःख-सुख की आपको क्या चिंता ? आप तो कुशल हैं न ?

मैं तो अच्छा ही हूँ, किंतु ऐसा क्यों बोलते हो ?

अजी, न बोलूं तो क्या करूं ? हमारे सारे नगर जनों के दुःख की कोई सीमा ही नहीं।

मंत्रीपुत्र ? स्पष्ट कहो, मेरे होते हुए चंपा के किसी बालक को भी कोई नहीं सता सकता।

युवराज, आपके चले जाने के बाद महाराज हरिषेण ने आपकी बहुत खोज कराई, किंतु आपके कोई समाचार भी प्राप्त नहीं हुए। आत्म कल्याण के लिए उन्होंने राज्य वैभव एवं विलास को छोड़ दीक्षा अंगीकार कर ली। खोजने पर भी जब आप नहीं मिले तब आप न मिलें वहां तक के लिए, विषेण को राज्य दे दिया गया।

चलो, दोनो काम बहुत अच्छे हुए। पिछली वय में संयम ले काकाजी ने उत्तम आदर्श ही नहीं, हमारी उज्ज्वल परम्परा को ही निभाया है और विषेण भी दायित्व आ पड़ने से राज्य निपुण और दूरदर्शी बनेगा।

आप तो विषेण के प्रति सदैव बड़े सहृदय रहे हैं। किंतु आप प्रथम मेरी बात सुन लीजिए। विषेण राजा बनते ही ज्यादा विलासी बन गया। वह प्रजा के विश्वास को भी खो बैठा और ... दिन मुक्तापीठ ने चं ा पर आक्रमण कर दिया।

अम गुरु ! मैं क्या सुन रहा हू। जिम चंपानगरी की तरफ शत्रु देखन का साहस तक नहीं करते थे उस पर आक्रमण ...?

आक्रमण ही नही अन्नदाता, मुक्तापीठ ही चंपानगरी के सिंहासन पर बैठा है और वह कायर विषेण न मालुम कहाँ भाग गया है।

ओह ! मेरे होते हुए चम्पा का राज्य मुक्तापीठ, हमारा शत्रु करे। चम्पानगरी की प्रजा अभी अनाथ नहीं हुई। मैं जीवित हूँ। यह कहते हुए श्रीषेण कुमार खड़ा हो गया। उसके हाथ ने तलवार खींच ली। उसकी आंखें अंगार बरसा रही थी। यह देख समरकेतु भी खडा होकर बोला— जहां तक चम्पा शत्रु के आधीन है, हम चेन से नहीं बैठेंगे।

महाराजा की जय हो। कुमार श्रीषेण की जय हो। इसी आशा से मै यहा चम्पानगरी की ओर से चम्पा की रक्षा की भीख मांगने आया था।

शीघ्र ही रणभेरी बजाई गई। रणभेरी की गगन भेदी ध्वनी उठी और विश्वपुर की चतुरंगिणी सेना युद्ध के लिए सन्नद्ध होने लगी। युद्धोत्तेजना की लहर सारे नगर में फैल गई।

आचार्य श्री हरिषेण

महाराज ! अब आप इस चम्पा नगरी को छोड़ कर अपनी राजधानी में मान पूर्वक पधारिए। चम्पा के वास्तविक अधिपति श्रीषेण को राज्य सौंप कर उससे अपने दुष्कृत्य की क्षमा मांगीए। युवराज दयालु 'एवं... ....' चम्पा के दूत ने मुक्तापीठ से निवेदन किया।

ओ वाचाल दूत ! बस कर, बहुत हो गया। पृथ्वी का कोई अधिपति नहीं होता। जिसमें सामर्थ्य हो वही पृथ्वी का पति होता है। यह राज्य मैंने उधार नहीं लिया, जो तू मांगने आया है। जा, तेरे युवराज से कह देना कि मैंने पराक्रम से राज्य लिया है। वापस पराक्रम से ही कोई भी मुझ से राज्य ले सकता है।

राजन् ! प्रारम्भ में ही पूरी तरह सोच समझ लें अन्यथा पीछे पछताना होगा। कुमार का पराक्रम देखने से पहले कहीं आपको अपना जीवन गुमाना न पड़े ?

इस निर्लज्ज दूत का गला पकड़ कर शीघ्र बाहर निकालो मुक्तापीठ के ऐसा कहते ही उसके राजपुरुषों ने श्रीषेण के दूत को राज सभा से बाहर निकाल दिया। राजा मुक्तापीठ ने भी चतुरंगिणी सेना को तैयार करने की आज्ञा दी।

समर भूमि में आंधी और सागर की तरह दोनों ओर की सेनाएं परस्पर आ भीड़ी। वाणों की वर्षा, धूल के बादल, वीरों की गर्जना और शस्त्रों के घर्षण से निकली चिनगारियां की बीजली से युद्ध भूमि प्रलय काल की वर्षाभरी काल रात्रि के समान ज्ञात हो रही थी। दोनों पक्ष के वीर योद्धा साक्षात शौर्यमूर्ति [से दीखते थे। कुछ समय में ही सैनिकों के शवों के ढेर लगने लगे और खून की नदियां बहने लगी।

श्रीषेण और मुक्तापीठ का तुमुल युद्ध बार बार एक या दूसरे के घात की शंका को उत्पन्न करता था। यह कहना कठिन था कि जयमाला किसके गले में आरोपित होगी।

वय, शरीर और शक्ति में कुमार छोटा था तथापि वह अपनी कुशलता से मुक्तापीठ को हर प्रहार रोक मुक्तापीठ को सख्त घायल कर पृथ्वी पर गिरा ही दिया। तथा उसे शीघ्र कैद कर लिया गया एवं युद्ध विराम की उद्घोषणा कर दी गई।

कुमार की जय ध्वनि से गगन मंडल गूंजने लगा। चम्पा नगरी की प्रजा ने श्रीषेणका भाव पूर्ण स्वागत किया तथा चम्पा नगरीं में कई दिनों तक विजयोत्सव मनाया गया।

जब मुक्तापीठ पूर्णतः स्वस्थ हो गया, तब श्रीषेण ने उसे आदर सहित मूल्यवान वस्त्रालंकार पहना कर कहा—राजन्! मुझे आपके राज्य की कोई भूख नहीं है। आप अभी भी अपनी

मि के अधिपति हैं। मैं युद्ध को दुर्भाग्य समझता हूं, किन्तु
या करूं ? आपने चम्पा नगरी पर अपना अधिकार कर युद्ध
लिए मुझे भी विवश किया।

कुमार सचमुच वय में छोटे होते हुए भी आप महान् हो।
भ-तृष्णावश ही मैंने अकारण आप से वैर मोल लिया है।

राजन्! मुझे अन्याय से वैर करना पड़ा, सच तो यह है कि
आपके पराक्रम पर मुग्ध हूं।

श्रीषेण कुमार की महानता, सुहृदयता, निर्लोभिता और सर-
ता आदि अनेक गुणों से मुक्तापीठ श्रीषेणकुमार पर अति मुग्ध
ो गया और उनका परम मित्र बना। कुछ दिनों के बाद
मार से मान भरी विदा ले मुक्तापीठ अपनी राजधानी में लौट
ाया।

प्रजा एवं स्वजनों का बहुत आग्रह होने पर भी श्रीषेण ने
ंपा नगरी का राज्य स्वयं ग्रहण नहीं किया। उसने कहा— पिता
ुल्य काका ने उसे राज्य दे स्वयं दीक्षा ग्रहण की, और उसी
वषेण से मुक्तापीठ ने राज्य लिया था। मैं वापस विषेण को
ो राज्यरुढ करना चाहता हूं। कुछ भी करो किंतु विषेण
ो खोज लाओ। मैं उसे राजा बनाऊंगा तब ही मुझे चैन
मिलेगी।

अत में विषेण को राजपुरुषों ने खोज निकाला और सारे समाचार सुना उसे ही राज्यारुढ करने की श्रीषेण की इच्छा भी उसे कह सुनाई। यह वह बोला—

मैं श्रीषेण की दया पर नहीं जीना चाहता। वह प्रथम से ही मुझे हलका बनाना चाहता है। जाओ, चले जाओ। श्रीषेण का दिया राज्य मे कदापि नहीं लूंगा।

चंपा के राजा हरिषेण राज्य छोड दीक्षा लेने के बाद महा तपस्वी, संयमी और ज्ञानी बने। हरिषेणमुनिको सर्वथा योग्य जान गुरु जी ने हरिषेण को आचार्य पदसे विभूषित किया। एक बार वे ही आचार्य हरिषेण अनेक शिष्यों सहित पृथ्वी को पावन करते हुए अपनी निवास भूमि चम्पा नगरी के उद्यान में पधारे।

राजपरिवार एवं सारी प्रजा उनके दर्शन वंदन कर उपदेश सुनने बैठे।

उन्होंने सभी पदार्थों की नश्वरता, जीव की अनाथता एवं संसार की असारता आदि विषय पर प्रभावशाली प्रवचन किया। जिसे सुन कुमार श्रीषेण मंत्रीपुत्र अमर गुरु आदि कई महानु भावों को वैराग्य भाव जागृत हुआ तथा वे संयम ग्रहण करने को तत्पर हुए।

श्रीषेण ने अपने पुत्र अमरसेन का समारोह पूर्वक राज्याभि

पक किया और महोत्सव पूर्वक महादान देकर श्री हरिषेणाचार्य के पास अनेक महानुभावों के साथ दीक्षा ग्रहण की।

ज्ञान, ध्यान, तप, संयम् और वैयावृत्य आदि की उपासना में रत रहते हुए श्रीषेण मुनि ने अपने जीवन को सफल बनाया। सात्विक शिरोमणी और गीतार्थ गुरुवर ने श्रीषेण मुनि को एकाकी प्रतिमा वहन करने की आज्ञा दी।

अकेलेही अप्रतिवद्ध विहार करतेहुए और श्मशान तथा अरण्य आदि में रहते एक वार श्रीषेण मुनि कोल्लाक सन्निवेश के समीप वर्ती उद्यान में पधारे और संध्या से पूर्व ही वहां ध्यान में लीन हो समभाव में ओतप्रोत हो गए।

राज्यभ्रष्ट विषेण मारा मारा भटकता था उसे न कोई ठौर था न ठिकाना। वह जहां जहां जाता, अपने कुस्वभाव और दुराचरणों से तिरस्कार और अनादर ही पाता था। श्रीषेण के ऊपर उसको जन्म से ही द्वेष भाव था। उसे पता चल ही गया था कि श्रीषेण ने संसार त्याग दीक्षा ले ली है। उसे राज्य की भूख थी किन्तु उसे किसी का सहयोग प्राप्त नहीं था दैवयोग से वह भी उसी दिन उसी कोल्लाक सन्निवेश मे आया और संध्या समय में वहां श्रीषेण मुनि को ध्यान मग्न देख, उसके क्रोध ने मर्यादा छोड़ दी।

इसी दुष्ट ने मेरे हरे भरे जीवन को उजाड़ दिया। इसने

सदा ही मुझे अपने से हीन सत्त्व और निष्कर्मण्य बताने का ही प्रयत्न किया। शांतिमती जैसी दुर्लभ पत्नी पाया, दुर्दम हाथी को मारकर उज्ज्वल यश पाया, पिताजी के प्रेम एवं विश्वास और प्रजा के आदर को इसने प्राप्त किया फिर भी दुष्ट मामान्तर चला गया और मुझे ही हलका बताया। फिर भी पेट नहीं भरा जो मुझे राज्य भ्रष्ट कर दिया। इतना करने पर भी महात्यागी बन गया है। बेटे को राज दे दिया। और आपने यश के भन्डार भर लिए। किंतु मुझे तो कहीं का नहीं रक्खा अत मैं आज ही इसकी जीवन लीला समाप्त कर देता हूं। यह सोच विषेण वहाँ से वापस लौट गया। मुनि की आत्मरमणता अद्भुत थी।

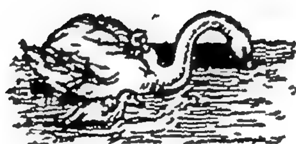
रात्रि के प्रगाढ़ अन्धकार में छिपता हुआ विषेण नग्न तलवार ले चला आ रहा था। पिछले कई वर्षों से अनेक आपत्तियाँ एवं विडंबनाएं सह सह कर उसका शरीर तो विचित्र हो ही चुका था, ईर्ष्या की आग ने उसके चेहरे को और भी कुरूप बना दिया था। निष्कारण वैर भावना ने उसे और भी भयंकर बना दिया। अरण्य में रात्रि का घोर अन्धकार और उसमें भी नग्न तलवार ले उसका कुटिल चाल से चलना, यह सब भय को भीषण बनाते थे। वह मुनि के समीप आ सोचने लगा—

यही वह दुष्ट है जो कई बार बच गया। प्रथम ही मर जाता तो आज मेरी यह स्थिति नहीं होती। यह सोच संपूर्ण बल एकत्रित कर ज्यों ही उसने अपनी तलवार सवेग मुनि के सिर पर चलाना चाहा, उसी समय वहाँ अलौकिक चमत्कार हुआ। उसका हाथ जहां का तहां काठ के समान शून्य हो स्थिर हो गया। उसे किसी अज्ञात शक्ति ने स्तंभित एवं भयभीत करते हुए ललकारा—

मूर्ख! तू अपनी दुष्टता के बारे में कुछ नहीं सोचकर निर्दोष महात्मा का घात करने आया है? याद रख यदि फिर ऐसा प्रयत्न किया तो अपनी मौत आप बुलावेगा। मैं यहां की क्षेत्र देवी हूं। ऐसा कह कर किसी अज्ञात शक्ति ने उसे उठा कर बहुत दूर जमीन पर फेंक दिया! वहाँ मारे भय के वह घंटों तड़फता पड़ा रहा। इतने में भीलों की एक टोली वहां आई। वे लोग विषेण को वहां से उठा ले गए! उन्होंने विषेण को बहुत दुःख दिया तथा उसकी बुरी तरह कदर्थना कर उसे मार डाला। अनाथ और अशरण दशा में मर कर विषेण छठ्ठी नरक में उत्पन्न हुआ जहाँ उसे निरन्तर असहनीय दुःखों को भोगना पड़ा।

मुनि श्रीषेण को तो कुछ पता भी नहीं था कि कौन आया और क्या हुआ? वे तो आत्मध्यान में डूबे हुए थे। प्रातः काल

होते ही वे अन्यत्र विहार कर गए। अंत में जिन कल्प की तुलना कर अनशन लिया और आयुपूर्ण होने पर नवमेंग्रैवेयक में महा प्रभावशाली देव बने।



आठवां भव

रूपसुन्दरी रत्नवती

उत्तरापथ की राजधानी शखपुर में शांखायन नामका एक महा प्रतापी राजा राज्य करता था।

उसके अनेक रानियों में श्रेष्ठ तथा अंतःपुर में प्रधान कांतिमती नाम की एक पटरानी थी। वह अत्यन्त रूपवती, सर्व गुण सम्पन्न, मृदुल स्वभाव वाली और राजा को अत्यन्त प्रिय थी।

इस दम्पति को रत्नवती नाम की एक पुत्री थी। जो कामदेव की राजधानी तुल्य यौवन मे प्रविष्ट हो चुकी थी। उसका रूप मुनियों के चित्त को भी चुराले ऐसा था। वह जैसी रूपवती थी वैसी ही विदुषी, गुणवती, तेजस्विनी और सम्पूर्ण कलाओं को जानने वाली थी। अनेक असाधारणता होते हुए भी उसमें ज़रासा भी गर्व नहीं था। आज तक उसे रूठी हुई किसीने देखा ही नहीं। वह मृदुभाषिणी एवं प्रसन्न मुखवाली थी।

मेरी इस लाड़ली के योग्य नवरत्न वर मिलना सचमुच दुष्कर है, यह सोच रानी अक्सर उदास एवं चिंतित हो जाया

करती थी। वह इस बारे में राजा को भी कहती—बेटी से बढ़कर रूप, गुण और कला वाला कुंवर कहां मिलेगा ?

देवी, तुम व्यर्थ चिंता करती हो। जगत में किसी भी पदार्थ की कमी नहीं है। जिस भाग्य ने रत्नवती को रूप-गुणादि दिये हैं, उसी भाग्य ने इसके योग्य सुवर की व्यवस्था भी अवश्य कर रक्खी है। हमें तो अपना प्रयत्न करना है। सब वस्तु का जोड़ा होता है। इस प्रकार वचन कहकर राजा रानी को सदा ढांढ़स बंधाते रहते थे। अंग प्रत्यंग में यौवन को उभरते देख रानी ने राजा को शीघ्रता करने को कहा और समझाया कि अब निकट भविष्य में शीघ्र ही विवाह होना आवश्यक है। क्योंकि कन्या विवाह योग्य हो चुकी है।

राजा ने विश्वासु और विद्वान चित्रमति और भूषण नामक दो पुरुषों को भिन्न भिन्न राजकुलों में सुयोग्य वर की खोजहेतु भेजते हुए कहा—

"आप स्वयं चतुर एवं इंगित (चेष्टा) मात्र से बहुत कुछ समझने वाले हो, अतः आपको समझाना सरस्वती को पढ़ाने जैसा होगा। कुल, प्रतिष्ठा, वय, रूप, विज्ञान एवं ऐश्वर्य से रत्नवती के योग्य राजपुत्र का चित्र एवं कला और कौशलय का परिचय सविवरण यथा शीघ्र लावें या भेजें। याद रखियेगा कि कई पदार्थ ऊपर से अच्छे लगते हैं परन्तु भीतर से तदनुकूल नहीं

होते अतः सदा प्रत्येक बातका बड़ी दूर दर्शिता एवं गंभीरता पूर्वक विचार कीजिएगा।

जैसी आज्ञा, देव ! कह कर उन दोनों विदग्ध पुरुषों ने यात्रार्थ प्रयाण किया।

उन्होंने कई स्थानों में कई राजपुत्रों को देखा। कोई रूपवान थे तो कला निपुण नहीं। कोई चतुर एवं विद्वान थे तो रूप का अभाव था। रूप एवं विद्या थे तो यथोचित वैभवशाली नहीं थे। कहीं वैभव था तो गर्व समाता नहीं था। फिर भी कई युवराजों के उन्होंने चित्र लिए तथा विवरण, परिचय एवं प्रमाण भी संग्रहीत किये।

अनेक नगरों में भ्रमण करते हुए वे अयोध्या नगर में पहुँचे वहां का युवराज गुणचन्द्र राधावेध कला का अभ्यास कररहा था। उसे देख वे राजपुरुष बहुत आकर्षित हुए और वहीं खड़े हो उसकी धनुर्विद्या देखने लगे।

अरे, भूषण ! भई ये कुमार है तो अनुरूप, किंतु इनका चित्र बनाना कठिन कार्य है।

सत्य कहा, एक बार देखकर चित्र नहीं बन सकता। इस रूप और सौष्ठव में तो विशेष विशेषताएं हैं।

सही है। अरे देख तो सही, कुमार के बाण को उनके साथी

निकाल भी नहीं पा रहे हैं, इतना गहरा घुस गया है ।

चलो, रूप और कौशल ही नहीं यहां तो पराक्रम भी है।

कुछ देर में कुमार अपने साथी सहित वहां से चल दिया। रत्नवती के योग्य वर को खोजने के लिए आए हुए चित्रमति और भूषण भी उनके पीछे हो गए। कुमार के साथियों में से एक कुमार से बोला—

कहिए, यही वह उद्यान है न ? कैसी भयंकर थी वह ध्वनि, जिसे सुनते ही हमतो भयभीतहो भाग गए थे। आपको धन्य हो ।

नये साथी ने कहा— अरे हां, यह बात कुछ मैंने सुनी तो थी। क्या कथा पारायण हुआ था ?

अरे भय्या ! कथा परायण नहीं, उत्पात था उत्पात' ।

कैसे ? कुछ स्पष्ट रूप से कहिए तो ।

अजी, हम सब कुमार श्री के साथ इसी उपवन में टहल रहे थे। तब अचानक ब्रह्मांड फूट जाने जैसा घोर शब्द सुनाई दिया। जिसे सुन हम दूर भाग खड़े हुए। किन्तु कुमार तो वहीं अचल खडे रहे। जैसे उन्होंने कोई सामान्य शब्द ही सुना हो। हम चौकन्ने हो देख रहे थे एवं सावधान हो सोच ही रहे थे कि एक विचित्र आकृति आकाश की ओर से आती हुई दिखाई दी। उपवन में आकर उसने वन में से एक वृक्ष उखाड़ कर कुमार पर

वज्रपूर्वक फेंका किन्तु कुमार युक्ति पूर्वक बच गए। इतने में एक ओर आकृति प्रकट हुई और उसने उस वानमन्तर को वहां से भगा दिया।

यह सुन भूषण एवं चित्रमति मुग्ध हो सोचने लगे, कुमार में नैपुण्य और निर्भयता भी असीम दीखती है।

× ×

भारतवर्ष की अनुपम एवं धर्म प्रधान नगरी अयोध्या में मैत्री वल नामक धर्मिष्ठ एव प्रतापी राजा राज्य करता था। उनको अद्वितीय रूप, लावण्य और सौभाग्य वाली पद्मावती नामक पटरानी के साथ मानवोचित सभी सुख भोगों को भोगते उन्हें शुभ स्वप्न और उत्तम लक्षणों से सूचित बालक की प्राप्ति हुई। राजमहल में ही नहीं सारे नगर में जैसे आनन्द छा गया, उत्सव आ गया।

बालक अत्यंत सुन्दर, उत्तम लक्षणवाला, अद्भुत प्रतिभा और प्रभुत्व ही नहीं अपितु ऐसा लगता था जैसे वह भवान्तरों से ही कई अच्छे गुणों वाला रहा हो। अतः महोत्सव पूर्वक उसका नाम गुणचन्द्र रखा गया।

दूज के चन्द्र की तरह बढ़ता हुआ गुणचन्द्र शिशु एक दिन कुमार बना। अप्रतिम पुण्य के उदय से उसके रूप का वैभव ही नहीं मानसिक परिपक्वता के साथ निर्मल बुद्धि की भी

सुविकसित हो गई थी। तथा यथानाम तथा गुण का उक्ति को सार्थक करता हुआ वह गुण का आवास बनने लगा।

कलाग्रहण हेतु यथा समय उसे कलाचार्य को सौंपा गया। उसकी स्मरण शक्ति इतनी तेज थी कि एक बार सीखा समझा वह कभी भूलता ही नही था। उसका हस्तलाघव, आंखों का तेज, अनुमान, गणित, परिणाम का ज्ञान एवं चपलता ऐसे थे कि उसका कोई प्रतिस्पर्धी नहीं था। शौर्य तो जैसे रोम रोम से झांक रहा था। विद्योपासना के साथ २ उसने कुमारावस्था को लांघ कर कमनीय यौवनावस्था में प्रवेश किया। यह गुण चन्द्र और दूसरा कोई नहीं –पूर्व भव में श्रीषेण (गुणसेन) का जीव ही स्वर्ग की आयु पूर्ण कर:राजा मैत्री बल का अतुल पराक्रमी, विद्या एवं कला का निधि और हमेशा ही देखने की इच्छा रहे ऐसे रुपवाला युवराज गुणचन्द्र बना था। और ·······

विषेण (अग्निशर्मा) का जीव नरक से निकल कर अनेक भवों में घोर दुःखों को सहकर रथनूपुर–चक्रवालपुर में विद्याधर के यहां जन्मा। उसका नाम वानमंतर रखा गया। गगनगामिनी आदि अनेक विद्याओं का स्वामी वानमंतर आकाशमार्ग से संचरण कर रहा था। अयोध्याया के मदन नंदन उद्यान में कामदेव जैसे कुमार गुणचन्द्र को क्रीड़ा करता देख वह मुग्ध हो उसे देखने लगा। विद्या विनोद एवं विलास से श्रेष्ठ अन्य

कुमारों के बीच गुणचन्द्र तारों में चन्द्र की तरह अतुलनीय प्रतिभा सम्पन्न दिखाई दे रहा था। उसे देख अकारण ही वान-मंतर को ईर्ष्या उत्पन्न हुई। कायर प्राणी के प्राण निकल जावें ऐसी भीषण गर्जना उसने इस कुमार को भयभीत करने के लिए की। इस महा भैरव गर्जना को सुनकर कुमार किंचित मात्र भी डरा नहीं। डरना तो दूर रहा प्रत्युत डरे हुए अपने साथिओं को कहा—

"ठहरो, भागो नहीं। ऐसी घटना से डरना नहीं चाहिए किन्तु धीरता एवं वीरता से ऐसे अवसर पर ऐसे दुष्टों को उचित उत्तर भी देना चाहिए।"

यह सुन सभी साथियों में साहस आया किन्तु वानसंतरमें क्रोधाग्नि प्रकटी। अहो इस लड़के की ऐसी धृष्टता और मेरी अवज्ञा करने का यह दुःसहास! यह सोच उसने एक कंचन का वृक्ष कुमार तथा उसके साथिओं पर फेंका। किंतु गुणचन्द्र के पुण्य प्रताप एवं कौशल से वे सब बच गए। यह देख वानमंतर की क्रोधाग्नि विशेष तीव्र हो गई। वह और उपाय सोच ही रहा था कि गमन रति नाम के क्षेत्रपाल ने अपने क्षेत्र में उत्पात करने वाले उस वानमंतर को वहां से भगा दिया। इस प्रकार बीती घटना पर अनेक वार्ता एवं विनोद करते सब नगर में आए!

कुमार का अधिक समय विद्याविलास एवं सत्संग में ही

बीतता था। वह राधावेध जैसी अद्भुत कला-साधना की उपासना भी करता और धनुर्वेद में अत्यंत नैपुण्य प्राप्त होने पर भी उसमें विशेष प्रगति हेतु सदा लीन रहता था।

आज कुमार राधावेध का अभ्यास कर वापस घर लौट रहा था और शंखपुर के भूषण और चित्रमति उनके पीछे चले आ रहे थे।

चित्रमति! अपने को तो कुमार जँच गए। ये राजपुत्री के सर्व प्रकारेण योग्य दीख पड़ते हैं।

सच है। अब अपने को इनसे तथा इनके बड़ों से सम्पर्क करने का प्रयत्न करना चाहिए। यों सोचते हुए वे दोनों अपने निवास स्थान में पहुँचे। कुमार आदि भी राज भवन में चले गए।



गुणानिधि गुणचन्द्र

युवराज! दो परदेसी चित्रकार द्वार पर खड़े हैं, आपके दर्शन करना चाहते हैं। द्वारपाल ने नमस्कार पूर्वक गुणचन्द्र को कहा—

आनन्द की बात है, कुमार ने कहा। क्योंकि उसे कलाकार और विद्वानों की संगति बहुत प्रिय थी। इसी कारण से भूषण और चित्रमती चित्रकार के नाम से वहां उपस्थित हुए।

युवराज की जय हो। युवराज अमर तपो !!

युवराज ने भद्रासन बताते हुए कहा-बैठिए।

उनके बैठने के बाद कुशल क्षेम आदि पूछे गए।

आप कहां से पधारे ?

जी, हम शंखपुर के निवासी हैं। आपके गुण सुन कर हम आपके दर्शन की अभिलाषा को दबा नहीं सके।

बहुत आनन्द की बात है, कि आप जैसे सज्जन हमारे नगर में आए हैं। वह भी इतनी दूर से ? वहां के राजा प्रजा तो आनन्द में हैं न ?

जी हाँ, धर्म के प्रताप से वहाँ सब आनन्द है।

सुना है आप चित्रकार है।

हाँ कुछ कलादेवी की उपासना की है। सामान्य रेखाएं खींच लेते हैं- कह कर भूषण ने एक चित्र पट्टक युवराज के हाथ में रखा। उसे खोलकर देखते ही कुमार मुग्ध हो गया।

अहो! सामान्य रेखा खींचने में ही सारा सौंदर्य भर दिया।

ऐसा सुरूप रेखान्यास मेरे देखने मे कभी नहीं आया।

यह तो कला का एक अंश मात्र है। आपकी महानता है कि आप हमें इतना मान दे रहे हैं।

नहीं चित्रकार महानुभावों। सचमुच कलाकृति अद्वितीय है। यदि कला का यह अंश है, तो संपूर्णकला के निखार में सौन्दर्य कहां समायेगा ? इसमें ही सौंदर्य उभरने लगा है। यह विशाल नयन सरल नासा, यह ....यह प्रवाल जैसे ओष्ठ ! ओह कैसे वर्णन करूं ? यह सर्वांगसुंदरी रति से भी अधिक रूप लावण्यवती है। हम तो भ्रमित हैं कि यह चित्र है या साक्षात् चैतन्य मूर्ति ?

महाराजकुमार ! इसमें जोकोई नैपुण्य है वह तो भगवान प्रजापतिका है, जिसने ऐसे रम्य और कमनीय रूप-लावण्य का निर्माण किया। हमने तो मात्र जैसा देखा वैसा आंशिक रुप से चित्रित मात्र किया है। इसमें हमारा क्या नैपुण्य ?

यह सुन कुमार एकदम हर्षवश पूछने लगा। क्या यह मानुषी है ? कौन है ? कहां देखा है इसे आपने। यह कुंवरी है या.. ?

कुमार श्री ! यह शंखपुर नरेश राजा शंखायन की प्राण से भी अधिक प्रिय पुत्री है। नाम है रत्नवती। यह अपने नामानुकूल गुण रत्नों की खान तथा लावण्य में अनुपमेय है। एक

बार ये अपनी सखियों के साथ कमलपुष्प ले देवमन्दिर जा रही थी। इसी दृश्य का हमने अपनी आत्म स्मरण शक्ति अनुसार आलेखन किया है। बाकी सही बात तो यह है कि इस चित्र को रत्नवती का पूर्ण सही चित्र कहना यह रत्नवती के रूप लावण्य की हंसी करने के बराबर है। ऐसी अतुल रूप, लक्ष्मी एवं विलासवती है वह।

यह सुन गुणचन्द्र उस चित्र में पूर्णत आसक्त हो गया। किन्तु शीघ्र ही मानसिक आकार-विकार को छिपाता हुआ वह बोला—

अच्छा अब हम कुछ सुभाषित प्रश्नोत्तर करें। प्रहेलिका आदि विनोद मे कुछ समय व्यतीत कर कलाकार स्व स्थान को आये। किन्तु कुमार का चित्त प्रयत्न पूर्वक हटाने पर भी बार बार रत्नवता के चित्र में ही जा बैठता था। अन्त मे भूपग-चित्रमती के चित्र के आधार पर कुमार ने भी रत्नवती का अनुराग पूर्वक एक चित्र बनाया। बडे कष्ट से उसका वह दिन व्यतीत हुआ। संध्या को देव गुरु उपासना एवं माता पिता के चरण-स्पर्श कर रात्रि में वह चित्र को देखता घटी बैठा रहा। वह चित्र दर्शन में इतना मग्न हुआ कि निद्रा पास आने का साहस नहीं कर सकी। वह सोचने लगा– यह राजा की पुत्री एवं कन्या है, यदि इसके साथ मे मेरा योग हो जाय तो जीवन धन्य बन जाय।

चित्र को देखता रहता। एक बार उसने चित्र के नीचे निम्नश्लोक लिख दिया—

हृदयेपि स्थितां बालां पश्यत दृष्टामपि चित्रकर्मणि।
इच्छति तथापि द्रष्टुं समुत्सेकोऽन्तरात्मा मे॥

इतने में भूषण-चित्रमति भी वहां आ गए और बोले—

ये दो चित्र कैसे हो गए ?

यह दूसरा मैंने बनाया है। क्योंकि एक चित्र तो तुम्हें वापस सौंपना ही पड़ता। कहते हुए कुमार ने श्लोक वाला अपना बनाया चित्र उनको दे दिया। वे भी कुमार गुणचन्द्र का बनाया चित्र ले, शखपुर जाने को विदा हो गए। शखपुर में आकर उन्होंने कुमार का चित्र बताया। राजा-रानी एक साथ बोल उठे—ये तो देव कुमार जैसे हैं। कौन हैं ये ?

यह सुन भूषण और उसके साथी ने कहा यह युवान अयोध्या का युवराज, रूपवान्, राधावेध जैसी दुःसाध्य कला का साधक, संगीत, काव्य नीति आदि में अत्यन्त निपुण ही नहीं अनेक गुणों के भंडार, आस्तिक एव स्नेहल भी है। हम बहुत घूमे किन्तु ऐसा राजपुत्र कहीं नहीं देखा।

बहुत प्रसन्नता की बात है। रूप के साथ ये अनेक गुण सम्पन्न भी हैं। साथ ही अयोध्या जैसी महानगरी के युवराज

भी हैं। किन्तु... ...,

महारांज, कोई चिंता की बात नहीं यह देखिए, कह कर भूषण ने रत्नवती का वह चित्र, जिसे कुमार ने बनाया था, महाराज के सामने रख दिया और कह दिया कि यह कुमार की स्वय की हस्तकला की अपूर्व साधना है।

बारीक अक्षरों में लिखे उस श्लोक को पढ़ कर राजपरिवार की आखें चमक उठी। मुख पर आनन्द की लहर दौड़ गई। जोड़ी तो बहुत अनुकूल लगती है।

जो रत्नवती कई कुमारो के चित्रों का प्राय परिहास किया करती थी, वह भी कुमार के इस चित्र के प्रति बावरी बन गई थी। कुमार की तरह कुंवरी को भी भूख का नाश और अनिद्रा की व्याधि सी हो गई थी। यदि निद आती तो स्वप्नों की परंपरा शुरू हो जाती। स्वप्न भी कैसे? जैसे आज तक कभी नहीं देखे। यह भाव जानकर सखिया उसे कहती भी कि बहुत जंचगए हैं क्या कुमार तुम्हें? धीर धरो एक दिन य भी मिल जायेंगे।

अरी, ऐसे भी भाग्य चाहिएं, कुवरी कहती।

तुमने अच्छी तरह धर्म की आराधना की ज्ञात होती है। देखा तुम्हारा चित्र। कितने उमग से उन्होंने बनाया है। और वह श्लोक। हृदये स्थितां . .. ., और सब ठहाका लगा

ऐसा सोचते सोचते मध्य रात्रि बाद उसे मधुर निद आई। रात्रि की अंतिम घटिका में उसे स्वप्न आया कि किसी अतिशय रूपवती नारी ने एक उत्तम कुसुममाला उसके कण्ठ में पहनाई। स्वप्न चल ही रहा था कि प्रभात की मंगल शहनाई ने उसे जगा दिया।

देव उपासनादि प्रातः कर्म से निवृत्त होने के बाद वह फिर चित्र दर्शन मे लीन हो गया। वह सोचने लगा, अवश्य ही इस भुवनमोहिनी का मुझे लाभ होगा। यह स्वप्न निष्फल नहीं होगा। क्योंकि प्राभातिक मंगलवाद्य से यह फलित होता है। इतने में विशाल बुद्धि मंत्रिपुत्र आदि मित्रवर्ग के आ जाने पर गूढ़-चतुर्थक विद्वद् गोष्ठी होने लगी। कुछ देर में भूषण और चित्र-मति भी वहां आ पहुँचे। कुमार की प्रखर प्रज्ञा देख दाँतों में अंगुली दबा गए। विशाल बुद्धि ने गुणचन्द्र से कहा—चौथा पाद पूर्ण करिए और उसने निम्न प्रकार तीन चरण बोले—

सुरतमनसो रतिगृहे, नितम्बभ्रमन्तं वधू धुतकराग्रा।
तत्-क्षणवृत्त विवाहा.................

गुणचन्द्र कुछ हंसते हुए बोला- वरस्यकरं निवारयति।

अहो। आशु प्रज्ञा। धन्य हो।

चित्रमति पुनः बोला—

भावितरतिसाररसा भुक्त्वा मुक्त बहलसीत्कारा।
न शक्नोति विपरीत रतं,.... ... .

कुमार ने कहा— नितम्ब भरालसा श्यामा।

'अप्रतिहत गति है कुमार श्री की। अच्छा एक मैं भी बोलूं' कह कर, भूषण बोला—

विपुले मुकुलिताक्षि वनविश्रम्भस्य श्यामा सुचिरम्।
विपरीत-सुरतसुखिता ....

कुछ सोचकर हसते हुए कुमारने चतुर्थ पाद की यों पूर्ति की-

विश्राम्यत्युरसि रमणस्य।

सब विषय में कुमार की अच्छी गति है- भूषण बोला। इतने में प्रतीहार ने कहा—महाराजा अश्वक्रीड़ा निमित्त आपको याद करते है।

पिताजी की आज्ञा प्रमाण है। कहता हुआ कुमार उठ खड़ा हुआ और पिताजी के साथ अश्व पर आरूढ़ हो, अन्य साथिओ सहित चल दिया।

राजकुंवरी रत्नवती का जब से चित्र देखा था और प्रशंसा सुनी थी तब से कुमार सदा खोया खोया सा रहता। एकान्त होने पर वह निरन्तर रत्नवती के बारे में ही सोचता और

चित्र को देखता रहता। एक बार उसने चित्र के नीचे निम्नश्लोक लिख दिया—

हृदयेपि स्थितां बालां पश्यत दृष्टामपि चित्रकर्मणि।
इच्छति तथापि द्रष्टुं समुत्सेकोऽन्तरात्मा मे॥

इतने में भूषण-चित्रमति भी वहां आ गए और बोले—

ये दो चित्र कैसे हो गए ?

यह दूसरा मैंने बनाया है। क्योंकि एक चित्र तो तुम्हें वापस सौंपना ही पड़ता। कहते हुए कुमार ने श्लोक वाला अपना बनाया चित्र उनको दे दिया। वे भी कुमार गुणचन्द्र का बनाया चित्र ले, शंखपुर जाने को विदा हो गए। शंखपुर में आकर उन्होंने कुमार का चित्र बताया। राजा-रानी एक साथ बोल उठे—ये तो देव कुमार जैसे हैं। कौन हैं ये ?

यह सुन भूषण और उसके साथी ने कहा यह युवान अयोध्या का युवराज, रूपवान्, राधावेध जैसी दुःसाध्य कला का साधक, संगीत, काव्य नीति आदि में अत्यन्त निपुण ही नहीं अनेक गुणों के भंडार, आस्तिक एवं स्नेहल भी है। हम बहुत घूमे किन्तु ऐसा राजपुत्र कहीं नहीं देखा।

बहुत प्रसन्नता की बात है। रूप के साथ ये अनेक गुण सम्पन्न भी हैं। साथ ही अयोध्या जैसी महानगरी के युवराज

भी है। किन्तु ......,

महाराज, कोई चिंता की बात नहीं। यह देखिए, कह कर भूषण ने रत्नवती का वह चित्र, जिसे कुमार ने बनाया था, महाराज के सामने रख दिया और कह दिया कि यह कुमार की स्वय की हस्तकला की अपूर्व साधना है।

बारीक अक्षरों मे लिखे उस श्लोक को पढ़ कर राजपरिवार की आखें चमक उठी। मुख पर आनन्द की लहर दौड़ गई। जोड़ी तो बहुत अनुकूल लगती है।

जो रत्नवती कई कुमारों के चित्रों का प्रायः परिहास किया करती थी, वह भी कुमार के इस चित्र के प्रति बावरी बन गई थी। कुमार की तरह कुंवरी को भी भूख का नाश और अनिद्रा की व्याधि सी हो गई थी। यदि निंद आती तो स्वप्नों की परंपरा शुरू हो जाती। स्वप्न भी कैसे? जैसे आज तक कभी नहीं देखे। यह भाव जानकर सखिया उसे कहती भी कि बहुत जचगए हैं क्या कुमार तुम्हें? धीर धरो एक दिन य भी मिल जायेंगे।

अरी, ऐसे भी भाग्य चाहिए, कुवरी कहती।

तुमने अच्छी तरह धर्म की आराधना की ज्ञात होती है। देखा तुम्हारा चित्र! कितने उमग से उन्होंने बनाया है। और वह श्लोक! हृदये स्थितां . . ., और सब ठहाका लगा

हंस पड़ती। कह कहा मच जाता। किंतु कुमारी सदैव सोचती रहती ऐसा पति महाभाग्य से ही मिलता है।

कुछ दिनों बाद गुणचन्द्र के साथ रत्नवती की सगाई निश्चित हुई। तब रत्नवती ही नहीं सारे शंखपुर में जैसे आनंद की बाढ़ आ गई। विवाह समय वर-वधू की इस मनोहारी और सर्व प्रकारेण अनुकूल जोड़ी की सबने बहुत सराहना की। इन्हें कामदेव और रति, चन्द्र और रोहिणी आदि की उपमा दी जाने लगी। जो उन्हें देखते वे विस्मित हो जाते। कोई प्रजापति की प्रशंसा करता कि विधाताने कैसी सुन्दर जोड़ी बनाई है अपनी सारी निपुणता एवं कला कौशल को ही इन दोनों को बनाने में लगा दिया है।

दोनों का विधि पूर्वक विवाह सम्पन्न हुआ। वर-वधू चित्र से कई गुने अधिक रूपशाली थे। एक दूसरे को देख दोनों अपने आपको धन्य समझने लगे।

देवों की तरह भोग में डूबे हुए उनको पता भी नहीं लगता था कि सूर्य कहां उदय होता और कहां अस्त होता है। अनुपम सुख का अनुभव करते तथा प्रकाश और छाया की तरह साथ साथ रहते सुख से समय बीतने लगा।



आचार्य देव श्री विजयधर्म

पिताजी! मुझे जाने दीजिए। आप को जाने की आवश्यकता नहीं! उस दुष्ट विग्रहराज को मैं ही अच्छी तरह बता दूंगा कि हमारी भूमि पर आक्रमण करने का क्या फल मिलता है।

बेटा! मैं इसीलिए जा रहा हूं। बहुत शीघ्र लौट आऊंगा। तूं चिंता मत कर।

नहीं पिताजी! एक गीदड के ऊपर सिंह कभी पंजा नहीं उठाता। विग्रह गीदड़ है। मुझे ही आज्ञा दीजिए। ताकि आपके प्रताप का उसे पता चल जावे। यह कह कर उसने अपने पिता को अन्तत: मना ही लिया और वह युद्ध हेतु सन्नद्ध होने चला गया। रणवेश में वह अपूर्व पराक्रमी शौर्यमूर्ति सा दीखने लगा। वह रणबंका पत्नी के प्रेमपाश को छोड़, सेना के साथ युद्ध भूमि के लिए चल दिया। एक मास के प्रयाण बाद वह अपने राज्य की अंतिम सीमा में पहुँचा। दूतादि द्वारा साम नीति में सफलता न मिलने पर रणभेरी का गगनभेदी नाद वातावरण को क्षुब्ध करने लगा। दोनों पक्षों के वीर योद्धा मैदान में आए और भीषण युद्ध छिड़ गया। गुणचन्द्र के युद्धोचित कौशल, उत्साह एवं पराक्रम को देख कर उसके सभी सैनिकों में भी अद्भुत चेतना फैली। गाजर और मूली की तरह

विग्रह् राज की सेना धराशाय होने लगी ।

दो दिन बीत गए। तीसरे दिन मध्याह्न का समय था। इतने में कहीं से भ्रमण करता हुआ वानमंतर विद्याधर उसी युद्ध भूमि के ऊपर आकाश मार्ग से गुजरा। गुणचन्द्र का उत्कर्ष देख उसे ईर्ष्या उत्पन्न हुई। वह संध्या समय युद्ध बद होने पर विग्रह राज से मिला तथा कहने लगा— मैं तुम्हें युद्ध में सहायता करूंगा क्योंकि गुणचन्द्र मेरा भी अकारण शत्रु है। दोनों ने मिल कर गुणचन्द्र के विरुद्ध एक योजना बनाई कि विद्यावल से वानमंतर विग्रहराज को मध्यरात्रि के समय गुणचन्द्र के आवास में पहुँचावे और वहाँ गुणचन्द्र निद्रावस्था में ही मार डाला जावे।

इस पूर्व योजित योजनानुसार दोनों उसी दिन मध्य रात्रि के समय गुणचन्द्र के आवास में पहुँचे। कुमार को प्रगाढ निद्रा में सोया समझ विग्रहराज धीरे से किन्तु परिहास में बोला—

मूर्ख बालक। मेरे साथ युद्ध छेड़ कर अब निश्चिंत कैसे सो गया। आखिर बालक ही तो ठहरा।

विग्रह राज का यह अट्टहास उसी के लिए कालरूप बन गया। भाग्यवश कुमार तत्काल जाग उठ बैठा। सामने विग्रह राज और वानमन्तर को देख द्रुतगति से अपनी तलवार उठाई और विग्रह राज के प्रति बोला—

ओह आप ! बिना बुलाए आने वाले मेहमान !! कहिए क्या खातिर की जाए आपकी ? क्या रात में भी आप का युद्धोन्माद शांत नहीं रह सका जो कपट पूर्वक यहां आ धमके । जब आप आ ही गए हैं तो मेरी तलवार आपके भी स्वागत के लिए तैयार है- आप भी तैयार हो जाइए मैं सोतो पर वार नहीं करता पर सचेष्ट पर ही हाथ उठाता हूं ।

इतने में प्रहरी आदि भी आ पहुंचे । यह देख वानमंतर तो भाग गया । हो हल्ला होने से कई वीर योद्धा विग्रह राज पर टूट पडे । उसी समय कुमार ने कहा—

कोई प्रहार न करें । मैं और विग्रहराज दोनों ही परस्पर युद्ध करेंगे । कुछ ही क्षण में दोनों का युद्ध भीषण एवं वेगवान् बन गया । विग्रह का पराक्रम देख गुणचन्द्र की सेना भी भय चकित हो रही थी किन्तु कुमार भी बड़ी कुशलता से उसके हर प्रहार को बराबर बचा रहा था और साथ ही साथ दुगने वेग से विग्रह पर प्रहार भी करता जा रहा था । एक क्षण दोनों की तलवारें जोरों से परस्पर टकराई और विग्रह की तलवार दूर जा पड़ी । दयालु कुमार नें अपनी तलवार थाम ली किन्तु विग्रह राज पर पैर का ऐसा प्रहार किया कि वह मुंह के बल पृथ्वी पर जा गिरा । ऐसा गिरा कि उसका उठना सम्भव नहीं लग रहा था ।

करतल ध्वनि पूर्वक कुमार के जयघोष से रण भूमि प्रतिघोषित हो उठी। कुमार बोला—

खड़े हो जाइए महापुरुष। तलवार सम्हाल युद्ध कीजिए।

विग्रहराज की दशा बड़ी विचित्र हो गई। तलवार उठाने की बजाय वह लड़खड़ाती जिह्वा से बोला—

कैसा महापुरुष। और कैसा युद्ध? आपके साथ युद्ध करना पहले भी अयुक्त था और अब तो विशेष प्रकार से अयुक्त है। मेरी गलती है। मैं महापुरुष नहीं का पुरुष हू।

अच्छी बात है। वीरपुरुष ऐसे ही होते हैं। सोये हुए शत्रु को बिना प्रहार के जगा कर आपने अपनी उत्तमता का परिचय दिया। धन्यवाद।

कुमार, बस करो! मैं अब आपका दास हू।

राजन्! यह क्या बोलते हैं! आप मेरे पिता जी के दास हो, और मैं भी अपने पिताजी का दास हू।

यह सुन विग्रह राजकुमार से लिपट गया। वैर का नाश और मैत्री का प्रादुर्भाव हुआ। कुमार ने अपनी अपनी सेना का घेरा उठा लिया। विग्रह सहित कुमार ने विजयोल्लास पूर्वक अयोध्या को प्रयाण किया।

मार्ग में एक सुरम्य उपवन में अनेक मुनिपुङ्गवों से परिवेष्टित आचार्य विजयधर्मसूरि को विराजे देख कुमार गुणचन्द्र और राजाविग्रह ने भावपूर्वक उन्हें वदन किया और बैठे। इतने में एक विद्याधर कुमार वहां आया। आचार्यदेव को वदन कर, उनकी प्रशसा करता हुआ वह बोला— भगवन्! कनकपुर नरेश दृढ़ प्रहारी को आपने जो अपना वृत्तांत सुनाया था, उसकी प्रशसा वहा की प्रजा के मुख से सुनकर मुझे बहुत कुतूहल हो रहा है। यदि किसी के शुभ योग मे वाधा न पड़े तो वह वृत्तान्त कहने की पुनः कृपा करें।

कुमार और विग्रह राज भी बोल उठे दयालु! हमें भी वह वृतांत सुनने की अति उत्कंठा है। कृपया सुनाने की कृपा करे।

इस पर आचार्य श्री ने मधुर वाणी से उन्हें वह वृतान्त निम्न प्रकार सुनाना शुरू किया.—

एक समय इसी मिथिला नगरी का मैं विजयधर्म नामक राजा था। चन्द्रधर्मा नाम की सर्वांग सुन्दरी एवं सुलक्षण पटरानी, जो मुझे प्राणों से ज्यादा वल्लभ थी, के साथ सुख पूर्वक दिन बिताता था।

सुलक्षणा होने से किसी सिद्धपुरुष ने मंत्र साधने के निमित्त उसका हरण किया। रानी को खोकर मैं चंचल हो उठा।

बहुत कुछ खोज करने पर भी जब कुछ पता नहीं चला तो मैं अचेत हो पृथ्वी पर गिर पड़ा। मोहवश मैं रोता और चिल्लाता रहा। तीन दिन तक भूख प्यास एवं निद्रा बिना मैं मात्र रानी को याद करता बैठा रहा। चौथे दिन एक तीव्र तप से परिक्षीण आकृति उत्पन्न हुई। जो भभूति एवं जटा से मंत्र सिद्ध ज्ञात होती थी। उसने कहा—

राजन्! व्याकुल मत बनो। उत्तम लक्षणों वाली होने से मंत्र साधन हेतु तुम्हारी पत्नी को मैं ले गया हूं। तीन दिन तक यह बात गुप्त रखने का कल्प होने से मैंने पहले यह नहीं बताई थी। विश्वास रखना कि उसे कोई पीड़ा नहीं होगी तथा शील भेद भी नहीं होगा किन्तु तुझे छः मास तक धैर्य रखना होगा, इतना मात्र कह कर वह सिद्ध पुरुष अदृश्य हो गया।

राजकार्य को छोड़ कर उन्मत्त मनुष्य की तरह मैं सदा विलाप करता रहता। हंसमिथुन को देख मेरी अवस्था अतीव दयनीय हो जाती इस प्रकार घोर वियोग दुःख को सहन करते हुए किसी प्रकार मैंने पांच मास व्यतीत किए।

एक बार अचानक ही मुझे आनन्द का अनुभव होने लगा। दुःख जैसे भूल गया। मै सोचने लगा, यह क्या हुआ? इतने मे बधाई आई कि भगवान तीर्थंकर देव पधारे हैं।

यह सुन हर्षवश मैं परिवार सहित समवसरण में गया। जहां

बारह पर्षदा के बीच त्रिभुवन गुरु जिनेश्वर देव विराजमान थे।

जय तिहुयणेक्कमंगल जय नरवर लच्छीवल्लह जिणिंद।
जय तवसिरिसंसेविय जय दुज्जयनिज्जियाणग ॥
जय घोरजियपरीसह जय लड्ढभुयंग सुंदरीनमिय।
जय सयजमुणियतिहुयण जय सुरकयसुहसमोसरण ॥
जय भवियकमलदिणयर, जय असुरनरामरोम पणिवइय।
जय तिहुयणचिंतामणि जय जीवपयासियसुहम्म ॥

इस प्रकार देवाधिदेव की स्तुतिकर वे उपदेश सुनने लगे। प्रभु ने मधुर ध्वनि से फरमाया—

हे भव्य जीवों! अनादिकाल से कर्मवश जन्म-मरण की परम्परा का अनुभव करता हुआ यह जीव, पाप से सदा दुःखों को और धर्म से सुख को प्राप्त करता है। यह धर्म, मुनिधर्म और गृहस्थ धर्म जीव के सामर्थ्यवश दो प्रकार का है। आदि दोनों प्रकार के धर्म का सविस्तार प्रवचन सुन प्रगाढ़ प्रसन्नता को पायी हुई पर्षदा अंजली जोड़ कर मस्तक नमाकर कहने लगी —

हे करुणानिधि! आपका कथन यथार्थ है। हम आपके शासन को स्वीकार करते हैं।

कितनेक भाग्यशालिओं ने मिथ्यात्व का वमन कर सम्य-

क्त्व को और कईओं ने देश विरति तथा कई अन्य संसारी धन्य भागिओं ने संसारिक मोह छोड़कर दीक्षा स्वीकार की।

वहां नारियों की पर्षदामें अपनी रानी चन्द्रयशा को भी देख मुझे बड़ा अचम्भा हुआ कि यह यहां कैसे? पत्नी विरह का दारूण दुःख जो मैंने सहा, वह किस कर्म का विपाक है। यह पूछने पर जिनेश्वर देव ने कहा—

विन्ध्यभूमि में शिखरसेन नामका भील अपनी श्रीमती नामकी पत्नी के साथ रहता था। एक दिन मार्ग भूल जाने से साधुओं का एक गच्छ उस वन में जा पहुँचा। उन्हें देख भील को चिन्ता हुई कि ये महाभाग मुनि विकट वनमें कहां चले जा रहे हैं। वह पत्नी सहित उनके पास गया और पूछा आप कहां जा रहे हैं?

महानुभाव! हम मार्ग भूल जानेसे इस अरण्य में आगए हैं।

श्रीमती ने भील से कहा कि इन तपस्वियों को कंद मूल फल आदि से तृप्त कर तुम इन्हें इस भयंकर वन में से सड़ी राज मार्ग परछोड़ आओ।

यह सुन भील बड़ा प्रसन्न हुआ। कंदादि तो नहीं लिए किन्तु जिन फलों के वर्ण-गंध बदल गए थे वे मुनिराजा ने ग्रहण किये। तपस्वियों का इस प्रकार समादर कर भील भीलनी

बड़े हर्षित हुए। मुनिराजों को वन से राजमार्ग को ले जाने के लिए दोनों ही साथ साथ चलने लगे। मुनिराजों ने उनकी भाव भक्ति देख उन्हें धर्म का उपदेश दिया। कर्म के उपशम से दोनों प्रतिबोध पाए।

मोक्ष सुख के कारणभूत नमस्कार महामंत्र और उसकी जाप विधि, आदि को सीख कर वे दोनों समकित भी पाए। मुनिश्रेष्ठ ने उनसे कहा—

महानुभाव! यदि इस शरीर से धर्माचरण नहीं हुआ तो यह शरीर किस काम का? कम से कम तुम इतनी तो प्रतिज्ञा करो कि पक्ष में एक दिन सब सावद्य (पापारंभ) का त्याग कर एकांत स्थान में नमस्कार महामंत्र का जाप करोगे, तथा उस दिन तुम्हारे शरीर का भी कोई यदि नाश करे तो भी तुम उसे क्षमा करोगे।

अवश्य भगवन्! इतना अवश्य करेंगे! आप सारा जीवन इस प्रकार ही जीते हैं तो क्या हम पंद्रह दिन मे ऐसा एक दिन भी नहीं बिता सकेंगे। ऐसा कहते हुए भील ने अपनी पत्नी की तरफ मुंह कर उसकी भी सम्मति पूछी—

भीलनी ने भी उत्साहित हो भील को कहा—अवश्य, इतना तो अपन अवश्य करेंगे ही।

मुनिराज ने उन्हें विधि पूर्वक प्रतिज्ञा करवाई। इतने में राज मार्ग आजाने पर मुनिराज आगे चले गए और भील-भीलनी हर्षित होते हुए वन में वापस लौटे।

बढ़ती हुई श्रद्धा वाले दोनों ही सदा गुरु वचन को याद रखते हुए धर्म प्रतिज्ञा में प्रमाद नहीं करते थे।

कुछ समय बीता। एक दिन वे दोनो नियमानुसार पौषध ले श्री नमस्कार महामंत्र का जाप कर रहे थे। इतने में कुछ दूरी पर एक सिंह ने गर्जना की। भीलनी को भयभीत देख भील धनुष बाण उठाकर बोला—डर मत, मेरे एक बाण में इसका कार्यपूर्ण होता है, देख।

भीलनी बोली—आपके कथन में कोई संदेह नहीं। किन्तु गुरु वचन भूल गए क्या? अपनी प्रतिज्ञा है कि उस दिन यदि कोई शरीर का नाश भी करे, तो भी क्षमा रखना।

अहो! अनर्थ हो जाता। अच्छा किया तूने याद दिलाया। मैंने स्नेहवश ही धनुष उठाया था। अब गुरु वचन में आदर कर महामंत्र का ध्यान धरें। और दोनों ध्यान में लीन हो गए। इतने में क्रुधित सिंह ने क्रमशः भील और भीलनी को फाड डाला। विशुद्ध चित्त वाले दोनों मरकर सौधर्म देव लोक में ऋद्धिमान देव हुए। दिव्य भोग को भोगते आयु पूर्ण कर भील

का जीव चक्रपुर नरेश कुरुमृगांक के वहां पुत्र रूप और भीलनी का जीव सुभूषण राजा के वहा पुत्री रूप में उत्पन्न हुआ। दोनों के नाम क्रमश: समरमृगांक और अशोक देवी रखा गया और एक समय दोनों पति पत्नी बने। परस्पर प्रगाढ़ स्नेह वाले दोनों विषयादि सुख में काल निगमन करते थे।

इतने में पूर्व (भील के) भव में पशु-पक्षिओं का नाश एवं नर और मादा का वियोग करने स्वरूप दुष्कर्म का उदय होने से श्रीवल नाम के राजा के साथ उसका युद्ध हुआ और रौद्रध्यानवाला समरमृगांक श्रीवल के हाथ मर कर सतरह सागरोपम की आयुवाले नरक में उत्पन्न हुआ।

आर्तरौद्र ध्यान वाली अशोक देवी मेरे पति जहां हो वहां मैं उत्पन्न होऊं ऐसा निदान कर चिता में जल मरी और मरकर वह भी नरक में गई।

नरकायु पूर्णकर दोनों दरिद्री वणिक के यहां उत्पन्न हुए और बड़े होने पर पति-पत्नी बने। दारिद्र्यदु:ख होने पर भी पूर्व भव के अभ्यास से दोनो में परस्पर असीम प्रीति थी। विषय सुख में उनका समय सुख से व्यतीत हो रहा था। उनके घर एक वार एक: साध्वी जी गोचरी को आये। श्रद्धा, संवेग और अत्यंत भक्ति से आहार दे उन्होंने पूछा—आप कहां ठहरी हैं?

साध्वीजी ने कहा—वसुश्रेष्ठी के घर के समीप वाले उपाश्रय

में हमारी गुरूणीजी सपरिवार विराजमान हैं।

यह सुन उन्हें अत्यन्त हर्ष हुआ। दर्शन व धर्म श्रवण के लिए जाने का मन में संकल्प किया और उसी दिन तीसरे प्रहर को कुछ पुष्प ले कर उपाश्रय में आये। वहां सुव्रता, नामकी साध्वी को हर्षपूर्वक अंजलि जोड़ प्रणाम किया। उन्होंने भी धर्मलाभ पूर्वक कहा कि ये पुष्प हमारे यहां नहीं किन्तु परमतारक परमात्मा जिनेन्द्र देव की प्रतिमा पर चढ़ाओ। जिनेश्वर देव की पूजा-अर्चा करने वाला परम्परा से ससार मुक्त हो जाता है। यह सुन दोनो समीपवर्त्ती जिनचैत्य में पुष्प चढा प्रसन्न हुए और उपाश्रय में साध्वी जी के सन्मुख आ बैठे। साध्वी जी ने कहा—जिनेश्वर देव की पूजा भक्ति एव उनकी वाणी का श्रवण यह भविको का उत्तम कर्त्तव्य है, क्योंकि शारीरिक और मानसिक अनेक दुःखों से संतप्त जीवों को इस के विना जगत में और कोई शरण ही नहीं है। अनेक भवो में भटकते हुए किसी भी तरह मनुष्यत्व प्राप्त हो जाने के बाद भी जीव विषय में लुब्ध रहता है, वह चन्दन काष्ठ को जलाकर उसके कोयले का व्यापार करने के समान है। धर्म से ही अंतराय का नाश होता है और अंतराय का नाश होते ही सब सुख संपत्ति एवं मोक्ष की भी प्राप्ति होती है।

तुम भाग्यशाली हो जो तुमने जिनेश्वर देव की पूजा की एवं

महाव्रत धारियों के दर्शन किये और धर्म श्रवण किया।

यह सुन दोनो हर्षित हो धर्म को पाए तथा मधु, मक्खन, मांस आदि का त्याग किया। नित्य व्याख्यानादि धर्म श्रवण से वे दोनों कुछ काल में ही भक्ति वाले, एव विषय से निवृत्त चित्त वाले उत्कृष्ट कोटि के श्रावक-श्राविका बने।

आयु पूर्ण कर पांचवे देव लोक में देव बने और वहां से आयु पूर्ण होते पर तू यहां विजयधर्म राजा बना और तेरी पत्नी यहां भी चन्द्रधर्मा नाम की पत्नी बनी।

भील के भव में तुमने दारूण हिंसा और अनेक नर मादा पशु पक्षिय का वियोग कराया था, उसका फल तुम दोनों ने नरकादि में भोगा और शेष क्षुद्र और दरिद्र बन कर भोगा। कुछ रह गया था सो इन छः महिनों मे सहा।

अपने पूर्वभव का इस प्रकार वृतान्त सुनकर मैंने तीर्थंकर परमात्मा से कहा—

भगवन्, दुष्कर्म तो मैंने किया पर उसके परिणाम रूप मेरी पत्नी ने भी दुःख सहा वह क्यों ?

प्रभु बोले—महाभाग ! उसने तेरे सब दुष्कर्मों की अनुमोदना की थी। अतः तेरे जितना ही उसे भी दुःख भोगना पड़ा। यह सुन सारी पर्षदा कर्म के विपाक को गंभीरता से सोचने

लगी। भगवान बोले —

हे भव्यों! पापकर्मों का ऐसा विपाक समझ कर अब से इस तरह यत्न करो कि जिससे भविष्य में फिर दुःख एवं क्लेश सहन न करना पड़े।

प्रभु की वाणी सुन मेरे मोह का नाश हुआ, मैंने वहीं दीक्षा अंगीकार कर ली। मिथिला में मैंने यही मेरा चरित सुनाया था।

यह सुन, गुणचन्द्र और विग्रहराज आदि प्रतिबोध पाए। कुमार बोला—आपके प्रताप से मैंने यथास्थित धर्म जाना है। मेरी मिथ्यामति का नाश हुआ और मेरे चित्त में आपके चरणो पासना की तीव्र इच्छा भी उत्पन्न हुई, किन्तु अभी तो मुझे यथा विधि गृहस्थ धर्म ही।

विग्रह भी बोला—भगवन्! यह कृपा तो मुझ पर भी कीजिए।

विधि पूर्वक व्रत ग्रहण कर वे भाव श्रावक बने। भक्ति पूर्वक वंदन कर गुरु श्री से अयोध्या पधारने की विनति कर विग्रहराज और गुणचन्द्र ने अयोध्या के लिए प्रयाण किया।



वैरी वानमंतर

पूर्व भव के वैरी उस वानमंतर विद्याधर ने अयोध्या में गुण-चन्द्र के लिए मिथ्या प्रचार कर दिया था कि 'कुमार' गुणचन्द्र तो विग्रह राजा के हाथ मारे गए हैं। राजा मैत्रिबल को तो विश्वास नहीं हुआ था, किन्तु यह सुनते ही रत्नवती मूर्छित हो गई। चेतना पाते ही वह बिलख बिलख कर रोने लगी। परिजनों ने बहुत समझाया किन्तु उसे धैर्य नहीं आया। राजा को वह कहने लगी मुझ मंदभाग्या को चिता में प्रवेश करने दीजिए, ताकि आर्यपुत्र के अकुशल को सुन कर भी ठहरे हुए इन निर्लज्ज प्राणों का मैं त्याग करूं।

राजा बोले—बेटी, मूर्ख मनुष्यों की तरह ऐसा नहीं सोचना चाहिए। यह बातें अविश्वसनीय हैं। एक सिंह को गीदड़ कभी नहीं मार सकता। तेरी सौभाग्य लक्ष्मी बनी रहे। मैंने अभी पवनवेग संदेश वाहक भेजा है। उससे एक सप्ताह तक कुशल समाचार मिल जायेंगे। तब तक धैर्य से काम लो।

रत्नवती ने शांतिकर्म, तप, जपादि शुरु किए। एक बार जिनालय से लौटते हुए उसे सुसंगता नाम की एक गुरुणी जी के दर्शन हुए। दर्शनमात्र से पापका हरण करने वाली साध्वी की रत्नवती ने उत्कट भाव से वंदना की एवं उनके घोर चारित्र

की बहुत बहुत प्रशंसा की। उनके साथ उपाश्रय में आकर कहने लगी—आप वात्सल्य की खान है। मुझे कुछ ऐसा उपदेश दीजिए जिससे मेरे चित्त को शांति मिले।

वत्से! ज्ञान की प्राप्ति से सब अशांति दूर हो जाती है।

रत्नवती ने कहा—मेरे पति के अशुभ समाचार से मैं व्यथित हूं।

वत्से! सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार तुम्हारे पति को कोई अमंगल नहीं हुआ दीखता है। धर्म में दृढ श्रद्धा रखो। धर्म की आराधना से पाप का नाश एवं मंगल की वृद्धि होती है।

यह सुन रत्नवती को बहुत आनन्द हुआ। उसका शोक नष्ट हुआ और वह धर्म में अत्यंत निष्ठावान बनी। धर्मोपदेश सुनने के लिए वह सदा तत्पर रहती। नमस्कार मंत्र उसका महा आराध्य मंत्र बन गया।

पांचवें दिन राजमहल में पधारी हुई साध्वी जी रत्नवती को उपदेश दे रही थी, कि इतने में चन्द्रसुन्दरी दासी ने दौड़ कर रत्नवती को बधाई दी कि आपके हृदय को आनंदित करने वाले युवराज नगरी में पधार गए हैं। वे विजयी हुए हैं और पूर्णतः स्वस्थ एवं प्रसन्न हैं।

यह शुभ संवाद सुन कर रत्नवती ने प्रमुदित हो गले का हार

दासी को दे दिया और आप गुरुणी जी की उपासना में लग गई।

कुमार ने महल में प्रवेश कर पिता को प्रणाम किया तथा युद्ध और विग्रहराज के साथ मैत्री के सब समाचार कह बताए। राजा यह सुन बहुत प्रसन्न हुए और कुमार को अति सम्मानित किया। वहां से कुमार रत्नवती के महल में आये। वहां साध्वीं जी को देख अत्यानंदित हो अंजलीबद्ध वंदन कर बोले—

भगवति! देखिए मेरे पुण्योदय को, उधर मार्ग में मुझे आचार्य देव ने प्रतिबोध दिया और यहां आपने मेरे दूसरे हृदय जैसी इन देवी को प्रति बोध दिया। हजारों भवों में जो लाभ अति कठिनता से मिले, वह लाभ हम दोनों पा गए।

साध्वी जी ने धर्मलाभ की आशीष देते हुए कहा—कुमार! यह सब पुण्यानुबंधिपुण्य का प्रताप है। इसी से प्राणी सुख की परम्परा पूर्वक मुक्ति को भी पा जाता है।

आप सत्य कहती हैं। यद्यपि पुण्य और पाप दोनों के क्षय से ही मुक्ति होती है। फिर भी पुण्य और पाप दोनो का नाश करने वाले भाव पुण्यानुबंधि पुण्य से प्राप्त होते है।

कुमार! तत्व की उपलब्धि में तुम्हारी अच्छी कुशलता है, कह कर साध्वी जी ने धर्म उपदेश दे विदा ली। कई दिनो के

बाद मिले दम्पती को परस्पर धर्म प्राप्ति से और अधिक आनन्द हुआ।

सांसारिक सुख को भोगते हुए और उचित समय में जिन-पूजा, प्रवचन, सामायिक प्रमुख धर्म करणी करते हुए उनका समय सार्थक हो बीतने लगा। दोनों की आत्मा मे धर्म का परिणमन हो चुका था।

कालक्रम से रत्नवती ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। राजा मैत्रि बल ने गुणचन्द्र का राज्याभिषेक कर प्रव्रज्या ग्रहण की।

कुमार गुणचन्द्र अब महाराजा बने हुए थे। उनके धार्मिक व्यवहार से प्रजा में भी धर्म के प्रति अति आस्तिकता आई। बाह्य एवं आंतरिक समस्त उपद्रवों का शान्ति पूर्वक शमन होने लगा। उनका राज्य धर्मराज्य कहलाने लगा। देव, गुरू, धर्म का उपासना पूर्वक राज्य पालते हुए उनका समय सुख पूर्वक बीतने लगा।

वर्षाकाल में एक बार राजा गुणचन्द्र अश्व क्रीड़ा निमित्त वन में गए। चारों तरफ मेघाछन्न आकाश था। सारी पृथ्वी और पहाड़ जैसे हरी मखमल पहन कर चित्त को हर रहे थे। आकाश में मेघ गरजता और बिजली चमकती थी। मोर नाच

रहे थे। तालव भर गए थे। मेंढ़क ड्राउं......ड्राउं बोल रहे थे। स्वछंदा बनी हुई नदी पूर्ण यौवनवती नारी की तरह इठलाती बल खाती किनारों को तोड़नी बही चली जा रही थी।

राजा इस प्रकार वन में सुरम्य प्राकृतिक दृश्य देखते हुए प्रसन्नता पूर्वक वापस लौटा। अभी भी उसके कान में नदी का निर्घोष एवं आंखों में उछलते नदी-तरंग शमित नहीं हुए थे।

कुछ समय बाद एक दिन फिर राजा अश्व क्रीड़ा निमित्त वन में निकले। वहां नदी की परिस्थिति देख वे विचार में पड़ गए।

नदी का पानी सूख गया था। जहां तहां गड्ढों में भरा पानी सड़ रहा था, जिसकी दुर्गन्ध वातावरण को गंदा बना रही थी। वनराजी मुरझा गई थी। इस प्रकार माया इन्द्रजाल सदृश इस लोक के पदार्थों का यह क्षण भंगुरत्व देख उन्हें संसार की असारता का ज्ञान एवं संवेग उत्पन्न हुआ।

शुभ परिणाम की धारा में मग्न बना हुआ राजा वापस महल में लौटा। शुभ परिणाम से इसे संयम की तीव्र भावना उत्पन्न हुई। शीघ्र ही रानी रत्नवती एवं मंत्री आदि को बुलाकर उन्होंने कहा—

इस विश्व में कुछ भी स्थायी नहीं है। कर्म के क्षयोपशम से

मुझे दीक्षा लेने के भाव हैं। शीघ्र ही मैं दीक्षा लेना चाहता हूं।

यह सुन रत्नवती आदि ने कहा—

जहां क्षणमात्र का भी विश्वास नहीं वहां हम शुभ कार्य में अंतराय या विलम्ब कैसे डाल सकते हैं। जीव लोक की स्थिति अतीव चंचल है। यह सुन राजा ने महादान देना एवं जिनालयों में महोत्सव कराना शुरू किया तथा अपने युवान पुत्र धृतिबल का राज्याभिषेक किया।

रत्नवती, मंत्री तथा सामंत आदि सहित राजा रथ मे बैठ वाराणसी नगरी में आचार्य श्री विजयधर्म सूरि जी के पास आया उत्कट भाव से सब ने वंदन किया। आचार्य श्री ने सब को धर्मलाभ की आशीष दी।

भगवन् जिनेश्वर देव का धर्म आज आपके पुण्य प्रताप से फला। दीर्घ समय की इच्छा आज साकार हो रही है। हम सब आज सर्व सावद्य का आजीवन त्याग कर संयम लेने की अभिलाषा से यहां आये है। कृपावतार! कृपा कर हमें दीक्षा दीजिए।

राजन्! आप इस महापुरुषार्थ के योग्य ही हैं। शुभ कार्य में विलंब नहीं करना चाहिए।

भगवन् ! आप यथार्थ कहते हैं।

शुभ तिथि, करण, मुहूर्त और योग में विशुद्ध अध्यवसाय वाले राजा गुणचन्द्र, रत्नावती, प्रधान विशाल बुद्धि आदि को आचार्य देव ने दीक्षा दी।

कुछ समय में गुणचन्द्र मुनि सब शास्त्रों के मर्म को जानने वाले महा गीतार्थ बने। उचित समय में उन्हें एकाकी विहार प्रतिमा धारने की इच्छा हुई। गुरु जी की आज्ञा मिलने पर वे निरतिचार प्रतिमा का पालन करते हुए अप्रतिबद्ध विहार करने लगे।

एक बार वे कोल्लाक-सन्निवेश में आये और वहां प्रतिमा ध्यान में लीन हो गए। उसी समय वानमतर ने जो मलयगिरि क्रीड़ा निमित्त उधर से जा रहा था, गुणचन्द्र मुनि को देखा। देखतेही उसे अत्यंत द्वेष उत्पन्न हुआ। देखो इसकी पापपरिणति! कैसा वेश और ढोंग बना रखा है। अभी उसके शरीर की चटनी बनाता हूं। ऐसा सोच वह एक शिला उठा आकाश में ऊपर गया और संपूर्णबलपूर्वक वह शिला मुनि के ऊपर पटकी, किन्तु वह मुनि का कुछ भी अहित न कर सकी। इस पर वानमन्तर विद्याधर को अधिक क्रोध उत्पन्न हुआ। उसने सोचा इसका पुण्य अभी तप रहा है। यह ऐसे नहीं मरेगा। अब मैं ऐसी कदर्थना कराऊं कि यह धर्म कर्म सब भूल जाए।

यह सोच उसने एक श्रेष्ठी के यहां से कुछ महामूल्यवान अलंकार उठा कर मुनिराज के चरणों के पास लता गुल्ल में छिपा दिए और स्वयं जा कर दण्डपाशिक को कह दिया कि यह मुनिवेश धारी पाखंडी है। इसके आचरण सर्वथा लोक विरूद्ध हैं। अशोक श्रेष्ठी के यहां जो चोरी हुई है, इसका ही कुकर्म है। मै साथ रहूगा, चलो! मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस की तलाशी लेने पर अशोक श्रेष्ठी का सारा चोरी गया माल इसके पास मिल जाएगा।

यह सुन दण्डपाशिक मुनि के पास आया। प्रशांतमूर्ति, तप से शोषित काया और निर्दोष आकृति को देख उसे विचार आया कि ये ऐसा कार्य कैसे कर सकते हैं।

वानमंतर ने दण्डपाशिक से कहा—क्या देखते हैं। मैंने देखा है इन्हें छिपाते हुए। वानमंतर के इतना कहने पर दण्ड-पाशिक द्वारा खोजने पर लता गुल्म से कई अलंकार प्राप्त हुए। यह देख दण्डपाशिक ने इसके बारे में मुनि को पूछा, किन्तु ध्यान में होने से वे कुछ न वोले।

एक राजपुरुष ने मुनि को जोर से लकड़ी मारी। यह देख वानमंतर क्रूर हंसी हंसा, और उसी समय उसने नरक का आयु वांधा।

दण्डपाशिक वोला—अपने को मारने की आवश्यकता नहीं,

यह विचित्र घटना राजा को कहे। यों कह उसने सब बात राजा को कह सुनाई। राजा वहां आया। मुनि राज को देख वह भक्ति पूर्वक वंदन कर बोला—

अरे तुम लोगों ने कोई दुष्टता तो नहीं की इनके साथ ?

सब मारे भय के बोल उठे— नहीं तो।

राजा विश्वक्सेन ने कहा—ये तो हमारे स्वामी महाराजा गुणचन्द्र हैं, जिन्होंने धर्म का राज्य करके भी पृथ्वी और ऐश्वर्य छोड़ कर त्याग धर्म स्वीकारा है। एकाकी विहार की घोर भावना द्वारा ये अपने मनुष्यत्व को सफल कर रहे हैं। चलो अपन सब इन से क्षमा मांगे। ये क्षमा के भंडार है। यह सुन सब ने मुनि चरणों में मस्तक रख अपने दुष्कर्म की क्षमा मांगी।

राजा बोले—तुम्हें यह दुर्मति किसने दी ?

देव, वो यहीं है, कह कर वे वानमंतर को खोजने लगे किंतु उसका पता नहीं चला।

राजा ने कहा—मेरे अंतः पुर आदि परिवार सहित प्रजा को सूचना दो कि हमारे स्वामी जो उत्तमव्रत को धारण कर साक्षात् धर्म की मूर्ति हैं हमारे असीम पुण्योदय से यहां पधारे है। अत. अपनी आत्मा को सफल करने के लिए सब भक्ति भावा-

नवमां भव

श्री समरादित्य

भारतवर्ष की सुप्रसिद्ध नगरी उज्जयिनी में सिंह के समान पराक्रमी पुरुषसिंह राजा पुत्र की तरह प्रजा का पालन करता था। इस धर्मनिष्ठ राजा को सर्वांगसुन्दरी सुन्दरी नामकी पटरानी थी। धर्म, अर्थ और काम का सेवन करते हुए उनका समय आनंद-प्रमोद में बीतता था।

सर्वार्थसिद्ध महा विमानवासी देव (गुणचन्द्र का जीव) आयुपूर्ण होने पर पटरानी सुंदरी की कुक्षी में उत्पन्न हुआ। सूर्य के स्वप्न से सूचित इस बालक को रानी ने समय पर बिना कष्ट के जन्म दिया।

सारे नगर में राजपुत्र के जन्म के उपलक्ष्य में महोत्सव मनाया गया। योग्य समय पर उस बालक का नाम समरादित्य रखा गया।

यहां वह वानमंतर (अग्निशर्मा) का जीव नरक का आयुपूर्ण कर तिर्यंच के अनेक भवों में नानाविध क्लेश को सह उज्जयिनी नगरी में ही हीनकुल में उत्पन्न हुआ। उसका नाम गिरि-

सेन रखा गया। वह दुर्मति, जड कुरूप एवं दरिद्री अनेक दु खो को सहता हुआ शरीर और पाप से बढ़ने लगा।

उत्तम साधनों एव सुविधाओ से प्राप्त समरादित्य वात्सल्य भरे हृदय वाले स्वजनों की गोद मे बढ़ने लगा और उसमे अनेक विशेषताए' चमकने लगी।

योग्य वय में वह कलाचार्य को सौंपा गया। बालपन मे भी उसकी बुद्धि परिपक्व देख कलाचार्य भी विस्मित एव आनदित हो गए।

इंगित मात्र में वह तात्पर्य को ग्रहण करता, एक बार ग्रहण किए ज्ञान को वह कभी भूलता नहीं, अल्प समय में ही वह विद्या, कला एवं विज्ञान का धारक तथा धीर, वीर गंभीर, तत्त्वातत्त्व का ज्ञाता, विवेकी और विनीत बना।

विस्मृत विद्या को फिर से पढा हो इस तरह कुछ ही काल मे वह पढ़ कर गुरुकुल से लौटा।

माता-पिता की आशाओं के साथ बढ़ता हुआ कुमार युवान हुआ। निरुपम रूप से, कमनीय क्रांति से, अद्भुत ओज से एव अलौकिक गुणों से वह प्रसिद्ध एवं विद्या से विश्रुत हुआ तथापि उसकी चेष्टा से माता-पिता व्यथित हो उठे।

यौवन मे भी निर्विकार, विलास के स्थान में भी वैराग्य

नुसार वंदनादि के लिए आवें।

जो आज्ञा! कह कर दंडपाशिक चले गए। कुछ ही देर में मानव समुदाय हर्षित हो गुरुवंदन के लिए उमड़ पड़ा।

एक कठहरे ने राजा को सारी वातों का निवेदन करते हुए भी कहा— कि एक गगनचारी पुरुष ने इन पर यह शिला पटकी थी।

यह सुन राजा को बहुत शोक हुआ। ऐसे गुणवान से द्वेष और पापपरिणति और वह भी किसी जीव के शत्रु नहीं प्रत्युत मित्र मानने वाले पर। अहो! भगवान् पर कैसा घोर उपसर्ग हुआ। यह सोच राजा शोक में डूब गया।

कुछ ही देर में ध्यान पूर्ण होने पर मुनि भगवंत बोले—महा राज! शोक मत करो। जो कुछ भी अपन सहन करते हैं, वह अपने किये पूर्व कर्मों का ही फल होता है। फिर किसे दोष देवें! दोषी तो अपन ही हैं। कर्म के प्रपंच का मुनिजी ने विस्तार पूर्वक विवेचन किया जिसे सुन राजा बोला—

भगवन्! आप धन्य हैं। आपने अपने इस मनुष्य भव को सफल बना लिया है। आत्मा को स्थिर किया, भावशत्रुओं को जीते, प्रमाद का नाश किया और भवसागर को पार कर लिया है। मैं अब आपके लिए नहीं, मेरे लिए शोक कर रहा हूं। मुझे

बताइए कि मैं अपनी आत्मा का कल्याण कैसे करूं। और किन महापुरुष की शरण लू।

मुनि बोले—आचार्य श्री विजयधर्म के पास जाओ। यह सुन राजादि दीक्षा की तैयारी करने लगे। मुनि अन्यत्र विहार कर गए।

वानमंतर की आयु क्षीण प्राय होने पर उसे कई भयंकर व्याधियों ने आ घेरा। महातीव्र वेदना से वह बालक की तरह आक्रन्दन करने लगा। अंत में रौद्र ध्यान से मर कर सातवीं नरक में उत्पन्न हुआ।

जिनाज्ञा से भावित आत्मा वाले भगवान् गुणचन्द्र महामुनि उत्कृष्ट कोटि की संयमाराधना द्वारा कई कर्मराशि का नाश करने वाले बने। अंत समय में सर्व जीवों से क्षमापना कर, वीतराग देव का शरण स्वीकार उन्होंने पादपोपगमन अनशन स्वीकारा।

मुनिगण वंद्यमान, जन समुदाय से पूज्यमान, ऐसे उन महा मुनि के गुणों को अप्सराएं गाने लगी और देव गण उनकी स्तुति करने लगे।

आयुपूर्ण कर वे सर्वार्थसिद्ध महाविमान में तैंतीस सागरोपम की आयुष्य वाले देव बने।

नवमा भव

श्री समरादित्य

भारतवर्ष की सुप्रसिद्ध नगरी उज्जयिनी मे सिह के समान पराक्रमी पुरुषसिंह राजा पुत्र की तरह प्रजा का पालन करता था। इस धर्मनिष्ठ राजा को सर्वांगसुन्दरी सुन्दरी नामकी पटरानी थी। धर्म, अर्थ ओर काम का सेवन करते हुए उनका समय आनंद-प्रमोद में बीतता था।

सर्वार्थसिद्ध महा विमानवासी देव (गुणचन्द्र का जीव) आयुपूर्ण होने पर पटरानी सुंदरी की कुक्षी में उत्पन्न हुआ। सूर्य के स्वप्न से सूचित इस बालक को रानी ने समय पर बिना कष्ट के जन्म दिया।

सारे नगर में राजपुत्र के जन्म के उपलक्ष्य में महोत्सव मनाया गया। योग्य समय पर उस बालक का नाम समरादित्य रखा गया।

यहां वह वानमंतर (अग्निशर्मा) का जीव नरक का आयुपूर्ण कर तिर्यंच के अनेक भवों में नानाविध क्लेश को सह उज्जयिनी नगरी में ही हीनकुल में उत्पन्न हुआ। उसका नाम गिरि-

सेन रखा गया। वह दुर्मति, जड़ कुरूप एवं दरिद्री अनेक दुःखो को सहता हुआ शरीर और पाप से बढ़ने लगा।

उत्तम साधनों एव सुविधाओं को प्राप्त समरादित्य वात्सल्य भरे हृदय वाले स्वजनों की गोद में बढने लगा और उसमे अनेक विशेषताएं चमकने लगी।

योग्य वय में वह कलाचार्य को सौंपा गया। बालपन में भी उसकी बुद्धि परिपक्व देख कलाचार्य भी विस्मित एव आनंदित हो गए।

इंगित मात्र में वह तात्पर्य को ग्रहण करता, एक बार ग्रहण किए ज्ञान को वह कभी भूलता नही, अल्प समय में ही वह विद्या, कला एवं विज्ञान का धारक तथा धीर, वीर गंभीर, तत्त्वातत्त्व का ज्ञाता, विवेकी और विनीत बना।

विस्मृत विद्या को फिर से पढा हो इस तरह कुछ ही काल मे वह पढ़ कर गुरुकुल से लौटा।

माता-पिता की आशाओं के साथ बढ़ता हुआ कुमार युवान हुआ। निरुपम रूप से, कमनीय क्रांति से, अद्भुत ओज से एव अलौकिक गुणों से वह प्रसिद्ध एवं विद्या से विश्रुत हुआ तथापि उसकी चेष्टा से माता-पिता व्यथित हो उठे।

यौवन मे भी निर्विकार, विलास के स्थान में भी वैराग्

प्रफुल्ल नयनों में करूणा का उभार आच्छ, पर बालक सी निर्दोष मुस्कान, चंचलता का संपूर्ण अभाव और जब देखो तब किसी गहनता मे डूबा हुआ, ऐसी कुमार की चेष्टा देख राजा-रानी को व्यथा ही नहीं चिंता भी होने लगी।

वह शरीर का शृंगार करता ही नहीं। गीत और विलाप में उसे अंतर ही नहीं लगता। नाच को वह कायक्लेश या व्यायाम से ज्यादा महत्व नहीं देता। अलंकार को वह बोझा समझता। उत्तम पदार्थों एवं भोजनादि मे आज तक उसने कभी रुचि नहीं बतलाई थी। उसे धम, कला एवं धर्म शास्त्रमय अध्यात्म ज्ञान मे जितना आनन्द आता उतना विश्व के किसी भी पदार्थ की प्राप्ति से नहीं आता था।

यह सब देख- सोच कर राजा पुरुषसिंह के कुलवान् किन्तु विलासी चार युवानो की कुमार से संगति करवाई और उन चारों को समझाया कि कुमार लोक मार्ग से संपूर्ण अनभिज्ञ है, अतः उसे इस बारे में निपुण बनाओ।

कुछ ही दिनों मे अच्छे व्यवहार से प्रद्युम्न, अशोक, ललितांग और कामांकुर मित्र बने। धीरे धीरे उन्होंने अपना कार्य शुरु किया।

अशोक बहुत मधुर किन्तु विरहिणी स्त्री के विलाप गीत गाता, तो अन्य वीणादि बजा कर वाता[illegible] बना

देते। कुमार कहता ये क्या वालक पन कर रह हो, कोई ज्ञान-विज्ञान की वातें करो।

तव कोई नीति, धर्म आदि के श्लोक बोलता हुआ सीधा श्र'गार रस पर उतर जाता। कोई अच्छे नाटक की बात करता, तो कोई सु'दरी के चित्र ले वैठ जाता। कोई सारस के जोंड़े की वात करता तो कोई स्त्री के विलास की वात करता, किन्तु कुमार दाक्षिण्यता वश उन से कठोर व्यवहार न करता किन्तु यह सब निरर्थक है, कोई उपयोगी वात करो कह कर ऐसे वार्तालाप को प्राय रोक देता।

जलक्रीड़ा, अश्वक्रीडा तथा झूला आदि अनेक क्रिड़ाओं में ये चारों कुमार को ले जाते किन्तु कुमार को कोई भी वस्तु आकर्षित नही कर सकती। अशोकादि कभी स्त्री के कटाक्षों की तो कभी अग उपांग की उत्तमता हीनता व की वात करते, तब समरादित्य का संवेग और भी बढ़ जाता और वह सोचता, अहो अज्ञानता अहो मोह चेष्टा और मूढ़ता! इन लोगों का क्या होगा। यदि मैं कुछ कहू तो इन्हे बुरा लगेगा। और न कहुँ तो ये वेचारे भवकूप में ऐसे जा गिरेंगे कि इनका निकलना दुःशक्य हो जाएगा।

एक दिन कुमार सहित सभी मित्र उपवन में वैठे थे। अशोक बोला -अरे भाई! यह कामशास्त्र क्या होता है

मन को हरण करता था। तरुण तरुणियाँ वन भ्रमण, जलक्रीड़ा तथा झूला झूलना पसंद करने लगे थे।

दो महाजनों ने राजा को विज्ञप्ति की कि हे राजन्! ऋतुराज वसंत आने से वन महोत्सव का सदा की भांति आयोजन किया गया है। यद्यपि आप की नगरी ही नित्य उत्सववाली है, फिर भी आज का ही दिन ऐसा है जिसमें प्रजा के साथ राजा भी आमोद प्रमोद करते हैं। अतः वसन्तोसव में पधार कर आप नागरिकों के मन को प्रसन्न करने की कृपा करें।

राजा ने सोचा—यह अच्छा अवसर है। कुमार को भेजूं जिससे संसार की रंगरेलियाँ देख उसके वैराग्यवान विचारों में परिवर्तन हो। यह सोच राजा बोले—अब मैं इस वसंतोत्सव के योग्य वय का नहीं। कुमार को ले जाओ, जिससे प्रजा एवं युवराज दोनों को अधिकाधिक आनन्द आएगा।

जो आज्ञा। कह कर वे चले गए।

राजा ने कुमार को बुलवा कर समझाया कि प्रजाजनों के साथ वसन्तोत्सव में भाग लेना अपनी राजकीय परम्परा है, अतः उत्सव में मेरे बदले तुम्हें जाना होगा।

जो आज्ञा। कह कर कुमार चला गया।

ज्ञानगर्भ प्रमुख प्रधान, अमात्यादि के अति आग्रह से कुमार

ने योग्य वस्त्राभूषण धारण किये। अशोकादि मित्र सहित कुमार रथ पर आरूढ़ हुआ। सारी प्रजा में आनन्द की लहर दौड़ गई। युवतियों का समूह यत्र तत्र अनिमेष नयनों से कुमार को निरखने लगा। अश्व, हस्ती, रथ, पैदल आदि के समूह सहित कुमार की सवारी आगे बढ़ने लगी। लोग आमोद प्रमोद में डूब से गए थे।

कुमार! देखिए, यह अतिमुक्त लता, इस तिलक वृक्ष को पुष्पित कर कैसी लिपट गई है। और वह दूरी पर एक ओर आम्रवन और दूसरी एक ओर तरुणियां झूल रही हैं। वह देखो सारस का युगल .... आदि बताते हुए, सारथी, मंत्रिपुत्र आदि युवराज के चित्त को आकर्षित करने का प्रयत्न कर रहे थे। इतने में कुमार ने एक कोढ़ी को देखा। जिसका शरीर विभत्स था। हाथों की अंगुलिया गलकर नष्ट हो गई थी। नाक भी सड़कर नाममात्र का अवशेष रह गया था तथा मक्खियों से बचने के लिए वह अपने फटे कपड़ों को ऊपर ढक रहा था। यह अवसर देख कुमार ने सारथी आदि को कहा—

आर्य! यह कौनसा नाटक है?

देव! यह नाटक नहीं, व्याधिग्रस्त पुरुष है।

सारथी! यह व्याधि अपने नगर में नहीं रहना चाहिए यह बड़ा दुष्ट है। देखो ना, कैसी स्थिति कर दी है इसकी।

कामांकुर ने उत्तर दिया—सभी शास्त्रों का राजा कामशास्त्र के प्रयोग को जानने वाले पर उसकी पत्नी उससे संतुष्ट रहती है, पति का चित्त स्वस्थ एवं प्रसन्न रहता है। ऐसा होने से उन्हें शुद्ध संतति की प्राप्ति, विशुद्ध दानादि, उत्तम क्रिया लाभ और परम्परा से महान् धर्म होता है। अतः इन सब का मूल कामशास्त्र ज्ञान है।

यह सुन ललितांग बोला—? त्य है, इसी मे धम और अथ की सफलता है।

सब बोले—वाह भाई, वाह! बात बढिया और प्रमाण युक्त है। अरे, कुमार आप तो कुछ बोलते ही नहीं हो।

मै क्या बोलूं! कोई सुनने वाला भी तो चाहिए न! सभी बोलें तो सुने कौन ? मैं सुन रहा हू।

नहीं, नहीं! सब ही बोलें और सब हि सुने। हमारी मान्यता में आपकी क्या राय है ? अशोक बोला।

यह सुन कुमार बोला—देखो बुरा न मानना। परमार्थ तो यह है कि कामशास्त्र बिना धार का भयंकर शस्त्र है। सारे विश्व को चरण में झुकाने वाला महान मनुष्य यदि कामी बनता है तो वह क्षुद्र व्यक्ति के सामने भी झुक जाता है और स्वयं भी क्षुद्र बन जाता है।

कामी आंख होते भी अंधा, मानव होते हुए भी पशु, बिना आसव आदि के मत्त और पडित होते हुए भी मूर्ख बनता है।

कामी धर्म अर्थ का नाशक, कुल कीर्ति का घातक, देव-गुरु का निन्दक और निर्लज्जता का भंडार होता है।

इस लोक में काम कर्म बन्धादि का कारण, ईर्ष्या का स्थान, क्रोध का निवास और विषाद-भय का क्षेत्र है। परलोक में दुर्गति में धकेलने वाला है।

कुमार की अप्रहित वाग्धारा, ज्ञान की गहराई और शुद्ध आत्मवीर्य आदि देख अशोक आदि दिङ् मूढ से हो गए। उनको कुमार में असामान्य वैशिष्ट्य दीखने लगा। कुमार बोला.—

क्या, कामशास्त्र निपुण मनुष्य की स्त्री असंतुष्ट नहीं होती ? क्या कामशास्त्र अनभिज्ञ की स्त्री संतुष्ट नहीं होती ? एवं ज्ञानवान् बालक को जन्म नहीं देती ! अर्थात् कामशास्त्र के ज्ञान से यदि विषय की निवृत्ति नहीं हुई तो कामशास्त्र व्यभिचार एवं विडंवना को ही जन्म देता है।

अतः सब उपद्रवों से रक्षण करने वाला, इस दो पैर वाले पशु को मनुष्य बनाने वाला तथा अन्त में सर्व दुःख मूलक जन्म से छुड़ाने वाला एक मात्र धर्मशास्त्र है। अतः हे प्यारे मित्रो। मैं आपसे अनुरोध करता हूं कि श्रद्धा पूर्वक मध्यस्थ बन अन्त-

ज्ञानियों के बताए हुए धर्मरसायन का सेवन करो।

यह सुन चारों मित्र एक दूसरे के सामने देखने और कुमार की बातों को ध्यान से सुनने लगे। कामांकुर बोला—तो यह भी तो शास्त्र ही है न?

कुमार ने कहा—हां, पशुओं से भी अधम बनने का। शास्त्र तो उसे कहते हैं जो मनुष्य का हित बता उसमें प्रवृत्ति तथा अहित से निवृत्ति करावे। बाकी सब हलाहल विष है।

यह सुन ललितांग बोला—आपका कहना नितांत यथार्थ प्रतीत होता है किन्तु लोकमार्ग में काम शास्त्र के सेवन बिना कैसे चले?

अहो, लोकमार्ग! लोकमार्ग? कोई एक मार्ग है क्या? आज एक कल दूसरा। सबका एक मार्ग कैसे होवे? लोगों को उन्नति के पथ पर ले जावे वह मार्ग। अधःपतनकारी लोकमार्ग नहीं होता और होवे तो शीघ्र ही उसे छोड़ना चाहिए।

इत्यादि कुमार के युक्ति युक्त यथार्थ कथन सुन मित्रों को अपनी गलती का ज्ञान हुआ। कुमार को वे अपना गुरु समझने लगे। वे बोले—हमारी भूल को हम स्वीकार करते हैं। हमारी निर्बलता है कि हम काममुक्त नहीं हैं। इस कायरता को पुरूषार्थ द्वारा दूर करने का हम भरसक प्रयत्न करेंगे।

मैं भी यही आशा रखता था। आप मेरे मित्र बनकर भी यदि अंध रहे, तो मुझे भी शर्म आवेगी। आज से अपन कल्याण मित्र हैं।

ललितांग ने कहा—हमें क्या करना चाहिए ?

समरादित्य ने कहा—कुसंग और व्यसन का त्याग करो। संतों का संग करो, मन और आत्मा को शुद्ध एवं बलवान बनाओ, सत् शास्त्रों का परिशीलन करो और संसार की अनित्यता का सतत भान रखो।

अपने को कृतकृत्य मानते हुए अशोकादि अपने आवास में आए और ऐसा मित्र मिलने पर अपने को सद्भागी मानने लगे।



वन महोत्सव

शिशिर चला गया था। वसंत ने वनस्पति को असीम शोभा दी थी। आम्र मंजरी से वातावरण आह्लादक हो चुका था। कोयल कुहु कुहु, कर जैसे कामदेव का आगमन सूचित कर रही थी। तिलक, बकुल, अतिमुक्ता आदि कुसुमित हो गए थे। भ्रमर जहां तहां पुष्परस पाने एवं गुंजारकरने में लीन थे। श्वेत चन्द्र

मन को हरण करता था। तरुण तरुणियाँ वन भ्रमण, जलक्रीड़ा तथा झूला झूलना पसंद करने लगे थे।

दो महाजनों ने राजा को विज्ञप्ति की कि हे राजन्! ऋतुराज वसंत आने से वन महोत्सव का सदा की भांति आयोजन किया गया है। यद्यपि आप की नगरी ही नित्य उत्सववाली है, फिर भी आज का ही दिन ऐसा है जिसमें प्रजा के साथ राजा भी आमोद प्रमोद करते है। अत' वसन्तोसव मे पधार कर आप नागरिकों के मन को प्रसन्न करने की कृपा करें।

राजा ने सोचा—यह अच्छा अवसर है। कुमार को भेजूं जिससे संसार की रंगरेलियाँ देख उसके वैराग्यवान विचारों में परिवर्तन हो। यह सोच राजा बोले—अब मैं इस वसंतोत्सव के योग्य वय का नहीं। कुमार को ले जाओ, जिससे प्रजा एवं युवराज दोनों को अधिकाधिक आनन्द आएगा।

जो आज्ञा! कह कर वे चले गए।

राजा ने कुमार को बुलवा कर समझाया कि प्रजाजनों के साथ वसन्तोत्सव में भाग लेना अपनी राजकीय परम्परा है, अतः उत्सव में मेरे बदले तुम्हें जाना होगा।

जो आज्ञा! कह कर कुमार चला गया।

ज्ञानगर्भ प्रमुख प्रधान, अमात्यादि के अति आग्रह से कुमार

ने योग्य वस्त्राभूषण धारण किये। अशोकादि मित्र सहित कुमार रथ पर आरूढ़ हुआ। सारी प्रजा में आनन्द की लहर दौड गई। युवतियों का समूह यत्र तत्र अनिमेष नयनों से कुमार को निरखने लगा। अश्व, हस्ती, रथ, पैदल आदि के समूह सहित कुमार की सवारी आगे बढ़ने लगी। लोग आमोद प्रमोद में डूब से गए थे।

कुमार! देखिए, यह अतिमुक्त लता, इस तिलक वृक्ष को पुष्पित कर कैसी लिपट गई है। और वह दूरी पर एक ओर आम्रवन और दूसरी एक ओर तरुणियां झूल रही हैं। वह देखो सारस का युगल.......... आदि बताते हुए, सारथी, मन्त्रिपुत्र आदि युवराज के चित्त को आकर्षित करने का प्रयत्न कर रहे थे। इतने में कुमार ने एक कोढ़ी को देखा। जिसका शरीर विभत्स था। हाथों की अंगुलिया गलकर नष्ट हो गई थी। नाक भी सड़कर नाममात्र का अवशेष रह गया था तथा मक्खियों से बचने के लिए वह अपने फटे कपड़ा को ऊपर ढक रहा था। यह अवसर देख कुमार ने सारथी आदि को कहा—

आर्य! यह कौनसा नाटक है?

देव! यह नाटक नहीं, व्याधिग्रस्त पुरुष है।

सारथी! यह व्याधि अपने नगर में नहीं रहना चाहिए यह बड़ा दुष्ट है। देखो ना, कैसी स्थित्ति कर दी है इसकी।

युवराज ! इस व्याधि को कोई रोकने या निकालने में समर्थ नहीं है।

यह सुन कुमार ने नागरिकों की ओर मुड़ कर कहा—हे नगर जनों ! यदि आप यह जानते हैं कि इस व्याधि को कोई रोक नहीं सकता। पाप कर्म के उदय से यह व्याधि उत्पन्न होती है तथा कोई भी शरीर कभी भी सड़ सकता है तब फिर आप इतना नाचते कूदते क्यों हैं ?

कुमार की बात को सुन सब ने कहा— आपका कहना यथार्थ है। रथ आगे बढ़ा। सवारी आगे चली। एक वृद्ध स्त्री पुरुष जिनकी सारी काया कांप रही थी, लड़खड़ाते मार्ग में चल रहे थे। उन्हें इस सवारी से भय था कि कहीं कोई हमें कुचल न न देवें। उनकी दशा बड़ी दयनीय थी।

इस कृशकाये दरिद्र दम्पति को देख—कुमार ने अपना रथ रुकवाया और कहा—

इन दोनों को कौन सताता है ?

देव ! इन्हें बुढ़ापा घेरे हुए है।

सेनापति ! इस बुढ़ापे को मार भगाओ।

यह सुन लोग—जो भारी मात्रा में इकट्ठे हो गए थे, विस्मित हो कुमार के सामने देखने लगे।

अन्नदाता! यह अपने बस की बात नहीं है। समय आने पर सब की यही स्थिति होती है-सेनापति ने झुक कर कहा।

क्या अपनी भी यही परिस्थिति होगी?

युवराज बोला—तो ऐसे वसंतोत्सव में आनन्द क्यों? और धर्म में उदासीनता क्यों?

यह सुन सब कुमार के कथन पर गंभीर बन गए। कुमार का रथ फिर आगे बढ़ा। सवारी भी आगे चली।

आगे चलने पर कुमार ने देखा कि कुछ लोग रोते हुए एक मनुष्य शव को उठा श्मशान भूमि को जा रहे हैं। कोई पिता का नाम, तो कोई काका एवं भाई का नाम लेते हुए बिलखता रोता चला जा रहा था। सब के मुख पर शोक भरी रेखाएँ झलक रही थी।

यह देख कुमार ने अपना रथ रूकवाकर कहा—

आर्य सारथी! यह कौनसा खेल हो रहा है?

यह सुन सारथी सोचने लगा—अहो आज निर्वेद के कारण की परम्परा ही चली आ रही है। संसार ही असार है कुमार को क्या कहूं? ये बहुत विद्वान् एवं शास्त्रज्ञ हैं। ये हम लोगों को बोध देने के लिए ही ऐसा कहते प्रतीत होते हैं। ऐसा सोचकर सारथी ने कहा—युवराज! यह खेल नहीं है। इस पुरुष के

मृत्यु ग्रस्त हो जाने से उसके स्वजन और परिवार वर्ग दु:खित हो आक्रंदन कर रहे हैं एवं इसकी अंत्येष्टि करने इसके मृत शरीर को श्मसान भूमि ले जा रहे हैं, जहां इसे जला देंगे।

कुमार ने फिर पूछा—आर्य यह मृत्यु क्या वस्तु है ?

इस मृत्यु को प्राप्त जीव इस संसार की अपनी सब ऋद्धि, परिवार, सम्बन्ध और अपने शरीर तक को सदा के लिए यहीं छोड़कर परलोक में चला जाता है। बाद में, उसके मृत्यु प्राप्त निर्जीव शरीर को कोई भी सम्हालने तैयार नहो होता।

आर्य। तब तो यह मृत्यु बहुत दुष्ट एवं अहितकर्ता सिद्ध हुआ। इसका नाश ही करना चाहिए।

युवराज। सुरासुर नागेन्द्र भी इसके सामने घुटने टेक देते हैं! इस के आगे मनुष्य का ऐश्वर्य, शारिरीक सामर्थ्य या बौद्धिक कपट कुछ काम नहीं आता। महान् से महान् व्यक्ति भी निराधार हो चल बसता है। मृत्यु के आगे किसी का कोई वश नहीं चलता।

यह सुन कुमार ने समुदित नागरिकों को पूछा—क्या आर्य सारथी का कहना सही है ?

चारों ओर से उत्तर मिला सर्वथा पूर्णतः सत्य है, यथार्थ है। यह सुन कुमार ने नागरिकों को उपदेश दिया:—

जब अपने पीछे यह विकराल मृत्यु मुंह फाड़े खड़ी है तथा उसके निवारण के लिए अपने पास कोई भी साधन नहीं है। अपनी कोई चतुराई उसके सामने नहीं चलती। अपने प्रयत्नों द्वारा और कठिनाई से जुटाये गये सारे पदार्थ यहाँ ही धरे रह जाते हैं और जीव निराधार हो अपने किये शुभाशुभ कर्मों का फल भुगतने अकेला परलोक में चला जाता है। तब तो अपनी स्थिति बड़ी गंभीर, शोचनीय और दयनीय प्रतीत होती है। तब भी अपने को नाचना—कूदना प्रिय लगे तो इसे क्या समझना ?

कुमार की मधुर किन्तु मार्मिक वाणी सुनकर नागरिकों का संवेग उत्पन्न हुआ और कितनेक शुद्ध व्यवहारी बने तो कईओं में बोधिबीज पड़ गया।

कुमार की यह चेष्टा सुन राजा ने उसे वापस बुला लिया। नगर में कुमार की बुद्धि, प्रतिभा, आत्म ज्ञान, विरागता आदि की सर्वत्र प्रशंसा होने लगी। लोग उसे राजकुमार नहीं किंतु ऋषिकुमार मानने लगे।



विभ्रमवती और कामलता

एक बार अपने आवास में अशोकादि मित्रों के साथ धर्म कथा करता हुआ कुमार बैठा था। वहां प्रतिहारी ने आकर कहा—महाराज याद करते हैं। यह सुन जो आज्ञा कह कर कुमार राजा के सामने उपस्थित हुआ तथा प्रणाम कर उचित आसन पर बैठा। राजा ने कहा—

बेटा! राजा खड्गसेन की रूप एवं गुण से विख्यात दोनों कन्याएं विभ्रमवती और कामलता तुम्हारे रूपगुणादि से तुम पर मोहित हो तुम्हें मन से वर चुकी हैं। राजकन्याएं स्वयंवरा होती हैं। वे दोनों विशिष्ट राजरीति के अनुसार यहां आई हैं। वय, विद्या, ऐश्वर्य, कुलादि से परस्पर योग्य हैं अतः यह सम्बन्ध स्वीकार कर हमें, खड्गसेन राजा को एवं इन दोनों कन्याओं को आनन्दित करो।

यह सुन कुमार सोचने लगा—संयोग ही दुःख का कारण है। यह अच्छा नहीं हुआ। इस सम्बन्ध के बाद अध्यात्ममार्ग में अनेक कठिनाइयां आवेंगी। कुमार को इस प्रकार मौन हो कुछ सोचते हुए देख कर राजा ने शङ्कित हो कहा—

बेटा! कुछ मेरी ओर तथा राज्य की तरफ देखो। जीवन यात्रा का पथ बहुत लम्बा है। फिर ये दोनों स्वयंवरा कन्याएं हैं,

अब तुम्हें छोड़ अन्य को नहीं चाहेगी, चाहे जीवन यूं ही बीता देना क्यों न पड़े। हमारा कहना मान हम सब को हर्षित करो।

यह सुन दाक्षिण्य वश कुमार ने कहा- जो आज्ञा। कुमार के ऐसा कहते ही महल में सर्वत्र आनन्द की लहर दौड़ गई।

राजा ने कहा—तुम विवेकी और कल्याण के भाजन हो। विशुद्ध धर्म की तुम मे पूरी समझ है। और वह सत्पुरुषो में होना भी चाहिए। संसार असार और निर्वेद का परम कारण है। किन्तु लोकमार्ग में रह कर, परोपकार करते हुए कुलक्रम के अनुसार भी वर्तन करना धर्म है। लोकाचार से अभ्यस्त होने पर परिणत वय में, उपद्रवो के नाश होने पर पुरुषार्थ का अवलंबन कर विशुद्ध धम का सेवन करना चाहिए। सुंदर कार्य के सुंदर परिणाम होगे।

इतन में मांगलिक वाद्य बजने लगे।

कुमार समरादित्य के लग्न विभ्रमवती और कामलता के साथ बड़े समारोह से विधिवत् सपन्न हुए। राजमहल में ही नहीं सारे नगर में धूम मची रही।

कुमार का शयन कक्ष देव विमान की तरह सजाया गया था। पुष्पों की जाली से मढी पुष्पो की शय्या ....महकता

मादक वातावरण... .... .भद्रासन पर वैठी हुई अभिनव यौवन वया दो नारियां जिनकी सुवर्णवर्णी काया की शोभा में हीरों के अलकार चारचांद लगा रहे थे। ... .हरिण जैसी आंखें ... ... और उनके उन्नत हृदय में हजार हजार वातें थी।

प्रिये, क्या मैं तुम्हे प्रिय हूं ?

प्रियतम ! क्या यह अव भी पूछने की वात है ? हमारा संकल्प ही इसमे प्रमाण है। हम स्वयंवरा ... .'

तुम मेरा हित चाहोगी या अहित ?

हम सदा हित ही चाहती है और सदा काल चाहेगी भी।

यदि तुम चाहो तो मेरा और मेरे साथ तुम्हारा भी निसन्देह भवोभव हित होगा।

नाथ ! आपकी बात समझ में नहीं आती। जरा स्पष्ट कहने की कृपा करें।

देखो ! भवसमुद्र में मनुष्य भव का मिलना बहुत दुर्लभ है। इसमें सर्व दुःखों का नाश हो सकता है। इसे धर्म में लगाना चाहिए क्योंकि अतिक्रूर मृत्यु अपने पीछे पड़ी हुई है। अभी शरीरादि स्वाधीन है, पराधीन दशा बहुत बुरी होती है।

आप सही कहते हैं। यह सारा ही प्रताप धर्म का है, और

धर्म को भूलने वाला तो मूर्ख है ही, किन्तु इतना प्रबल पुरूषार्थ सबका नहीं होता...... अर्थ ... काम ....'

हां, हां ! पुरुषार्थ करने से ही तो होता है। अर्थ तो इतना छोड़ छोड़ कर अपन मरे हैं, कि उसे इकट्ठा किया जाय तो पृथ्वी पर उसका समाना कठिन हो जाए। खाया इतना है कि सब पहाड़ भी बराबरी नहीं कर सकें और इतना पीया है कि समुद्र भी शरमा जाए। क्षणिक सुख के लिए अनेक कष्टों को सहा है। यद्यपि किपाक का फल तो मधुर एवं स्वादु है किंतु खाते ही प्राण का नाश भी होता है। इसी तरह विषय सुख का परिणाम बहुत भयंकर है। यदि कोई ऐसा सोचे कि विषयादि से मन भर जाए, तब धर्मानुष्ठान करेंगे तो यह भी अज्ञान है। क्योंकि असंख्य वर्षों तक सुख भोगने पर भी कभी तृप्ति नहीं होती। चाहे नदियों से समुद्र का पेट भर जावे, या काष्ठ से अग्नि शांत हो जावे तो भी विषयादि से जीव को तृप्ति होना अशक्य है। तुम दोनों चतुरा हो। बुद्धिशालिनी हो। शास्त्र के मर्म को जानती हो। ज्यादा क्या कहूं ? मोह आसक्ति छोड़ो। यदि तुम दूर दर्शिता पूर्वक विचार करो और शुद्ध प्रेम से देखो तो तुम्हें भी गंदगी में पड़ने की इच्छा नहीं होगी।

यह सुन भवान्तरों की धर्माराधना आड़ी आने से दोनों नव वधुओं के भाव शुद्ध होने लगे। कर्मों का क्षयोपशम होने लगा।

कुछ क्षण बाद ही मित्रमत्ती बोली—नाथ, मेरा मोह नष्ट हुआ। सम्यग् ज्ञान उत्पन्न हुआ। भव का भय प्रकट हुआ और विषयों से चित्त की निवृत्ति हुई।

कामलता बोली—मेरी भी यही स्थिति है। हमें किसी प्रबल पुण्य से आपका योग मिला है। आपने हमे भवसागर से उबार लिया। हमें आज्ञा कीजिए कि अब हम क्या करें।

कुमार बोला—सुन्दर, बहुत सुन्दर। आप दोनों का जन्म सफल हो गया। ये विषय मोहजनित, मोह के हेतु, मोह-स्वरुप और मोहानुबन्ध करने वाले हैं। क्लेश जनित, क्लेश हेतु, क्लेश स्वरूप तथा क्लेश की परम्परा को बढाने वाले हैं। अतः विषयासक्ति को छोड़ हमें संयम धारण करना चाहिए।

उसी वक्त दोनों बोली—आपकी अनुमति से हमने यावज्जीव विषय का त्याग किया।

यह सुन कुमार अति प्रसन्न हुआ और उनकी प्रशंसा करते हुए बोला—यह लघुकर्मता है। तुम दोनों सचमुच धन्य हो। परमार्थ को जानने वाली हो। मैं भी यावज्जीव विषय का त्याग कर आजीवन ब्रह्मचार्य पालने की प्रतिज्ञा करता हू।

कुमार तथा दोनों नववधुओं द्वारा आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करने की प्रतिज्ञा करते ही तीनों पर देव गणों ने आकाशसे

पुष्प वर्षा की।

शुभ परिणाम की धारा बढने पर कुमार को वहीं अवधि-ज्ञान उत्पन्न हुआ। अतीतादि भाव जानकर उनके हृदय में वैराग्य की अतिशय वृद्धि हुई।

प्रतिहारी ने राजा एवं रानी को राजकुमार एवं नव वधुओं द्वारा आजीवन ब्रह्मचर्य धारण करने की प्रतिज्ञा लेने का विवरण कह सुनाया। जिसे सुनते ही राजा एवं रानी दुखित हो कुमार के आवास को आये। वहां अचानक देदीप्यमान शरीर, दिव्य-कांति एवं तेजोमय आभूषण वाली एक देवी उत्पन्न हुई। उसे देख चकित हो राजा रानी ने उसे प्रणाम किया। वह बोली—महाराज! विषाद छोड़ो। कुमार ने बहुत अच्छा किया है। उसने विष छोड़ा और अमृत ग्रहण किया है। भव भ्रमण का नाश कर मोक्ष का संधान किया है। तुम दोनों भी धन्य हो, जो ऐसे महापुण्य शाली पुरुष सिंह के माता पिता बने हो।

देवी! आप कौन हैं?

मैं सुदर्शना नाम की देवी हूं। तुम्हारे पुत्र के गुण के अनु-राग से मैं यहां इसी भवन मे ही रहती हू, इतना मात्र कह कर देवी अन्तर्धान हो गई।

रानी बोली—देखो! पुत्र के गुण का प्रभाव! देवी भी

अनुराग धरती है। राजा भी मस्तक हिलाने लगा। दोनों कुमार के भवन में आये। उन्हें देख कुमार एवं दोनों वधुएं खड़े हो गए।

पिताजी! आप क्यों पधारे। हमें ही बुलवा लेते।

बैठते हुए राजा ने कहा बेटा अति दुष्कर कार्य किया है तुम तीनों ने! देवता भी तुम्हारे गुण गाते है।

पिताजी, चार पुरुष वन में गए। उनमें जो दो अथ लोलुप थे उन्हें महानिधान मिले और दो कामलुब्ध थे उनको देव कन्या जैसी दो सुन्दरियां जो उनके इच्छानुकूल आज्ञा में चलने वाली थी, मिली। चारों ही इच्छित करने को ही थे कि एक घोर शब्द सुनाई दिया-'ऊपर देखो... ... ...' उन्होंने ऊपर देखा तो एक बड़ा भारी पर्वत आकाश से नीचे बड़ी तेजी से चला आ रहा था। अब अर्थकाम में लुब्ध होना अच्छा, या उन्हें छोड़ निरुपद्रव स्थान को विना विलंब चले जाना अच्छा।

इसमें क्या पूछना ? नश्वर अर्थ काम में जीवन नष्ट थोड़े ही किया जाता है।

यदि यह सत्य है, तो पिताजी! आप ही बतावें मृत्यु पर्वत सिर पर चला आ रहा है। तब अर्थ काम को छोड़ अपना रक्षण करना चाहिए या उसमें आसक्त हो कुत्ते की तरह मृत्यु

की शरण होना चाहिए ?

रानी ने कहा—वत्स ! जिनका मोह नष्ट हुआ है और जो परिणतवय वाले हैं वैसे हम जैसे लोगों के लिए तो तेरा कहना यथार्थ हो सकता है किन्तु जिन्होंने अनेक नवीन आशाओं के साथ आज ही तुमसे विवाह किया है ऐसी इन अर्द्ध विकसित कुसुम कलिकाओं सी नव यौवना नव वधुओं का क्या होगा ?

माताजी ! ये उत्तमजीव ही अपने घर आई हैं। आप स्वयं इन्हें ही इनके अन्तरतम की बात पूछ लीजिए।

दोनों नव वन्धुओं का खिले हुए पुष्प की तरह वदन प्रसन्न था। वे बोली—माताजी ! आपका उद्वेग भी मोहवश है ! आपके पुत्र को प्राप्त करके आपकी आशीष से हम सब कुछ पा गई हैं। हमारा जन्म सफल हो गया ! दोनों कुल उज्ज्वल हो गए।

यह सुन राजा रानी अवाक् हो उनके मुखों की तरफ देखने ही रह गए। अहो रूप लावण्य, अमृतसी मीठी वाणी, विवेक, नम्रता और दक्षता ! ये कन्याएं कुसुम सी कोमल और ये घोर प्रतिज्ञा ! धन्य है इन्हें, इनके पति को, माता को पिता को और शिक्षा प्रदाता गुरु को। हमें धिक्कार है। ये यौवनावस्था में प्रवेश करके और मोह राजा के अभेद्य किले में फंस कर भी

उसे जीतकर बाहिर निकल आए हैं और हम ....?

समरादित्य ने सुअवसर जान युक्ति, हेतु तथा उदाहरण पूर्वक धर्मोपदेश किया। जिसको सुनकर बात ही बात में रात्रि पूर्ण होने आई। कुमार ने राजा को चरण वंदन कर विनंति पूर्वक कहा—कृपा कर मुझे संयम स्वीकार करने की अनुमति प्रदान कीजिए।

हमें भी अनुज्ञा देकर इस संसार दुःख से हमारा रक्षण कीजिए। दोनों नव वधुएं भी साथ ही बोली।

'और मुझे भी आज्ञा देवें' रानी बोली।

और मै भी तुम्हारे साथ चलता हूं। तुम बेटे नहीं हमारे गुरु हो। कह कर राजा ने सारे वातावरण को और भी आनन्द मय बना दिया।

यदि विश्व में ऐसे ही परिवार बसते हों तो! कुमार बोल उठा।

इतने में प्राभातिक मंगल वाद्यों का कर्णप्रिय मधुर स्वर घोर निद्रा में पड़े जीवों को जगाने लगा। मंदिरों में घंटे बजने लगे। उदयाचल के शिखर पर आरुढ हो सूर्य पृथ्वी को प्रकाशित करने लगा। कमल खिल उठे। बिछुड़े चक्रवाक का सुभग मिलन हुआ!

ऐसे समय मे महामात्यादि ने राज महल में प्रवेश किया। राजा ने कुमार का अद्भुत चरित्र एवं अपने पूरे परिवार सहित महाभागवती दीक्षा अंगीकार करने की इच्छा कह सुनाई।

आश्चर्य में डूबा हुआ महामात्य बोला—कुमार अल्पवयस्क होते हुए भी महान् हैं। उनका रग-ढग-ज्ञान विज्ञान बाल्यावस्था से ही अद्भुत देवानुकूल रहा है।

आर्य। अब विलब मत करो। हमारे संयम धारण करने हेतु समस्त समुचित प्रबन्ध शीघ्र करो। अमारी दान देना भी शुरू कर दो।

जो आज्ञा! कह कर उसने व्यवस्था शुरु की। अमारीपटह बजाया गया। महादान देना शुरू हुआ। सर्व जिनालयों मे महोत्सव के आयोजन हुए। पौरजनों का सन्मान सामतों का बहुमान, गोत्रियो का सत्कार गुरूओं की पूजा आदि शुभ कार्य प्रारम्भ किए गए और बंदियो को छोड़ दिए गए।

प्रशस्त तिथि करण मुहूर्त योग मे राजा ने अपनी बहन के पुत्र मुनिचन्द्र का राज्याभिषेक किया। और कुमारादि के साथ दीक्षा लेने को उद्यत हुआ।

कुमार, दोनों पत्नियों, माता, पिता आदि सहित भव्य शिविका मे बैठा। अनेक मित्रों वान्धवो, राजाओं, आमात्यों, दण्ड-

नायकों, कोषाध्यक्ष श्रेष्ठि, सार्थवाह, प्रतिष्ठित नागरिकों से युक्त हस्ति, अश्व, रथादि महाविभूतियों से सुशोभित, मंगलवाद्य से रमणीय, राजपरिवार की शिबिका राजमार्ग से निकली।

नगर के आबाल वृद्ध नर नारियों के नेत्र अविरल हर्षाश्रु धारा बहा रहे थे। सर्वत्र इस राज परिवार के गुणानुवाद हो रहे थे।

अर्थीवर्ग की इच्छा पूर्ण करते, महादान देते, विस्मय को उत्पन्न करते, संवेग को बढ़ाते और बोधिबीज को बोते, शुद्ध परिणाम से कर्मजाल को तोडते हुए कुमार आदि नगरी से बाहर पुष्पकतण्डक नाम के उद्यान मे आए और चारज्ञान धारक श्री प्रभासाचार्य के पास सिद्धांतानुसार विधि पूर्वक दीक्षा ग्रहण की।

सारी नगरी में धर्म का साम्राज्य छा गया। सब नर-नारी राजकुमार की श्लाघा एवं धर्म की आराधना में गौरव समझते थे किन्तु (अग्निशर्मा का जीव) गिरिसेन को कुमार एवं उसका यह गुणानुवाद क्रोध उपजाने लगे। वह सोचने लगा—अरे, यह जन समुदाय भी कितना मूढ़ हो गया है! इस मूर्ख राजपुत्र की ऐसी स्तुति और इतना बहुमान! ढोंगी धूर्त कहीं का। ऐसे को तो मार डालना चाहिए। यह सोच वह जड़मति मुनि समरादित्य के छिद्र देखने लगा!

श्री प्रभासाचार्य भगवन् के सानिध्य में संयम, व्रत, क्रिया

और ज्ञानोपासना में काल बीतने लगा। पूर्वभव के अभ्यास एवं क्षयोपशम से श्री समरादित्य थोड़े से काल में ही द्वादश अंग के ज्ञाता बने उनको वाचक पद पर आरूढ किया गया।

अनेक शिष्यगणों से परिवरित, निरन्तर विचरण द्वारा भव्य जीवों को उद्‌बोधन करते हुए वाचक श्री समरादित्य अयोध्या आये और वहां शक्रावतार नामक चैत्य में भगवान् श्री ऋषभदेव की यात्रा चैत्यवंदनादि कर उपाश्रय में पधारे।

इतने में वहां के राजा प्रसन्नचन्द्र आदि नर-नारी गण भी वाचकजी के दर्शनार्थ आ गए और चैत्यवंदनादि कर श्री समरादित्य मुनिराज की अमृत जैसी देशना सुनने लगे।

देशना में वाचक मुनि श्री ने फरमाया—इन नश्वर साधनों से शाश्वत धर्म को साधने वाला ही पंडित है। जगत में मुग्ध होने जैसा एक भी पदार्थ नहीं है। अपन जो कुछ भी देखते हैं वह कूडे—कचरे के सिवाय और कुछ भी नहीं है। यह सुन्दर यौवनवती काया राख की ढेरी से बढ़कर अधिक कुछ नहीं है.......इत्यादि।

यह सुन श्रोतागण वैराग्य रस में निमग्न हो गए। देशना के अंत में राजा प्रसन्नचन्द्र ने प्रश्न किया—प्रभु ऋषभदेव धर्म के आदि प्रवर्तक हैं, तो उनके पहले धर्म था या नहीं ?

इसके उत्तर में वाचक वर ने उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी आदि कालक्रमों का स्वरुप तथा प्रत्येक काल में होने वाले चौवीस तीर्थंकरों का स्वरुप वतलाकर, कहा—तीर्थंकर आदि होते हैं और धर्म अनादि है।

इन्द्रशर्मा नाम के परलोक भीरु ब्राह्मण ने कर्म का स्वरुप पूछा।

चित्रांगद ने बंध का स्वरूप एव प्रकार पूछा।

अग्निभूति ने पूछा-भगवान् किसे कहते हैं। उनकी उपासना क्यों और कैसे करना तथा उसका क्या फल है?

धनऋद्धि सेठ ने पूछा -भगवन् आप हमें स्थूल अणुव्रत देते हैं तो शेष अविरति की अनुमोदना हुई या नहीं?

अशोकचन्द्र ने पूछा—भगवन्, धर्मी जन को आपत्ति और अधर्मी के संपत्ति देखी जाती है, इसका क्या कारण?

त्रिलोचन ने पूछा—प्रभु! सर्वश्रेष्ठ दान कौनसा?

सभी शंकाओं का श्री समरादित्य वाचक श्रेष्ठी ने विस्तार से दृष्टांत और युक्ति पूर्वक समाधान किया। अयोध्या में धर्म शासन की प्रभावना हुई। अनेक जीव धर्म मार्ग पर प्रवृत बने।

निरन्तर उपकारशील श्री समरादित्य अनेक नगरों ग्रामों में भ्रमण करते २ उज्जयिनी में पधारे! 卐

दुर्भागी गिरिसेन

सारी नगरी में अपूर्व उत्साह था। सभी नगर निवासी अपने सब काम काज छोड़ कर श्री समरादित्य के प्रवचन सुनने को अधीर हो आने लगे। सब के मुख में एक ही बात थी। धन्य त्याग, अद्भुत समता, असीम धीरता, अकाट्य युक्ति, प्रखर पांडित्य, अनुपम सरलता ! जय हो भगवान जिनेन्द्र देव के शासन की। जय हो धर्ममूर्ति श्री समरादित्य की। समस्त उज्जयिनी मे सर्वत्र दुकानों में, घरों में, गली में, राजमार्ग में, गांव बाहिर यही नहीं गायें आदि चरानेवाले भी यही बात करते थे। एक मात्र दुःख हो रहा था तो केवल गिरिसेन को। सदैव दुर्भावना से वह श्री समरादित्य को पाखण्डी समझता और अवसर मिले तो जीवित जला देने की सोचता रहता था।

एक बार विशिष्ठ योगाराधना के लिए श्री समरादित्य मुनि अशोक उद्यान में प्रतिमा ध्यान में ध्यानस्थ थे। गिरिसेन को उन्हें देख अत्यन्त क्रोध आया। रौद्रध्यान में व्यस्त उसने सोचा-आज अच्छा अवसर मिला है। इस पाखंडी का नाश कर मैं अपने मनोरथ पूर्ण करूंगा। यह सोच वह दौड़कर अतीव का शीघ्र जलने वाला तेल और चींथड़े ले आया। चींथड़ों को तेल में भिगोकर उसने मुनि श्री के शरीर पर वेष्टित किया और उनमें आग लगा दी।

मे आ देव-देवी ही नहीं अपितु इन्द्र-इन्द्राणी भी नृत्य में सम्मिलित हुए। भावोल्लास वश सभी के हृदय कमल उल्लसित होने लगे। नृत्य पूर्ण कर इन्द्र ने अंजलि जोड़ प्रार्थना की—

हे भगवन्! आप कृतार्थ हो गए, आपने दुर्जित मोह का नाश किया, क्लेश का निवारण किया, कर्म वैरी को परास्त कर दिया, केवल लक्ष्मी प्राप्त की, भव भव के बन्धनों को तोड डाला, और सम्पूर्ण विश्व पर महान् उपकार किया। हे भगवन्। आप की जय हो, जय हो, ... जय हो।

श्री समरा दित्य को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ सुन कर राजा, सामंत, मंत्री आदि भी अतीव प्रमुदित हो उठे । अहो! भगवन् की अभिलाषा पूर्ण हुई।

इतने में नर नारियों का महा समुदाय आ पहुँचा। हर्षित हो सब बारम्बार वंदनादि करने लगे। फिर गीत नृत्य से महा प्रमोद उत्पन्न हुआ और केवल ज्ञान की महा महिमा गाई गई।

यह देख गिरसेन को भवचक्र मे प्रथम वार शुभ भाव उत्पन्न हुआ। अहो! ये महान् हैं। मैंने इनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। यह सोचते ही उसके भव बंध मे शुभ बीज पड़ गए। वह वहां से चल दिया।

केवली भगवंत ने देशना प्रारम्भ की-

हे भव्य जीवों! अनादिकाल से यह जीव सुवर्ण और मिट्टी की तरह कर्म से युक्त है। अतः कर्मवश विचित्र विकार को पाता है। भिन्न भिन्न योनि में उत्पन्न होता है। जन्म, जरा, मरण, रोग, शोकादि द्वारा कदर्थना पाता है। अशुभ वेदना को असहाय हो सहता है। संयोग-वियोग से दुःखित होता है। मोह के वश होता है। सन्निपात से ग्रस्त मनुष्य की तरह हिताहित को न जानता हुआ अपथ्य का सेवन करता है और हितकारी पदार्थ का त्याग करता है। इसी कारण से दुःख की परम्परा को प्राप्त करता है।

अतः हे महानुभावो! मूढ़ता को छोड़ो, तत्त्व को पहचानो, गुरु-देव की उपासना करो, विधिवत् दान करो, दुष्टता को छोड़ो, मैत्री को धारण करो, शील को पालो, तपस्या का अभ्यास करो, शुभ भावना भाओ, कदाग्रह मत रखो, शुद्ध ध्यान, अनुष्ठान स्वाध्याय और उत्तम क्रिया द्वारा कर्म मैल का नाश करो।

हे देवानुप्रियों! कर्ममल के नाश से सब उपद्रवों का नाश, होकर अनन्त शुभ स्वरुप मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यह सुन उपस्थित परिषदा वैराग्य से अधिवासित हुई और कहने लगी—आप जो फरमाते हैं, पूर्णतः सत्य है। प्रवचन सुनने बाद वंदन कर देवराज इन्द्रादि ने स्वस्थान को प्रस्थान किया।

श्री समरादित्य को योग के कारण प्रथम तो कुछ पता न चला किन्तु आग लगते ही उनका ध्यान टूट गया।

अरे यह क्या हुआ ? किसी को दारुण भाव उत्पन्न हुए। उसके अनर्थ का हेतु मै बना। मुझे तो कुछ हानि नहीं होगी, किन्तु इस जीव का क्या होगा ? वे अपनी आत्मा के प्रति कहने लगे जीव समताधर ! इससे भी ज्यादा कष्ट तेने पराधीन अवस्था में सहे है। आदि शुभ ध्यान की धारा बढने लगी, क्षपकश्रेणि उल्लसित हुई, वीर्य स्फुरायमान हुआ, कर्म की शक्ति का नाश हुआ, ध्यान रूपी अग्नि प्रज्वलित हो उठी, मोह रुपी लकडी जलने लगी और अनेक लब्धियां उत्पन्न हुई, आत्मा शुद्ध होने लगी, घातिक कर्मों का नाश हुआ और श्री समरादित्य को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ।

आसन चलित होने से समीपवर्ती वेलंधर देव अनेक देवों सहित वहां आए और शीघ्र ही अग्नि का शमन कर श्री समरादित्य मुनि पर कुसुम वृष्टि की और स्तुति करने लगे।

अरे यह क्या हुआ ? चकित हो गिरिसेन देखने लगा। वेलंधर देव बोला—अरे दुराचारी ! पापकर्मा ! अनार्य ! पुरुषाधम ! यह तूने क्या किया ?

इतने में राजामुनिचन्द्र, रानी नर्मदा आदि परिवार सहित वहां आए। मुनि भगवंत को वंदन कर वेलंधर देव को जयजिने-

न्द्र कह पूछा—आर्य ! क्या बात है ?

वह बोला—राजन् ! इस अनार्य ने अपने अनर्थ के लिए मुनिभगवंत को अग्नि प्रयोग से प्राणांत उपसर्ग किया।

अहह ! अतिदारुण दुष्कर्म किया। चन्द्र की तरह शीतल और वात्सल्यनिधि भगवान् श्री समरादित्य को पीड़ा देने का क्या कारण हुआ ?

वेलंधर बोला—महाराज मै नही जानता। किन्तु अनर्थ की परम्परा देने वाले अशुभ कर्मों के उदय के सिवा और क्या हो सकता है ?

हां सही बात है। तथापि भगवंत को पूछें। दोनों श्री समरादित्य के समीप गए। इतने मे केवल ज्ञान की महिमा करने एरावत पर बैठ देवों का राजा इन्द्र अनेक देव, देवी, यक्ष किन्नर, गांधर्वादि परिवार सहित वहां आया।

भूमि शुद्ध की, सुगंध जल छिड़का गया, जल-स्थल में उत्पन्न होने वाले भिन्न भिन्न प्रकार के सुगंधित हजारों पुष्प की वर्षा की और मध्य में सुवर्ण का महा कमल स्थापित किया। जिस पर श्री केवली भगवंत विराजे। सूरीले दिव्य वाद्य बजने लगे। किन्नरों ने मधुर-मंजुल गान गाए और अप्सराओं ने अंग भांगिमा, और अभिनय युक्त नृत्य आरम्भ किए। आनन्द

मे आ देव-देवी ही नही अपितु इन्द्र-इन्द्राणी भी नृत्य में सम्मिलित हुए। भावोल्लास वश सभी के हृदय कमल उल्लसित होने लगे। नृत्य पूर्ण कर इन्द्र ने अंजलि जोड़ प्रार्थना की—

हे भगवन्! आप कृतार्थ हो गए, आपने दुर्जित मोह का नाश किया, क्लेश का निवारण किया, कर्म वैरी को परास्त कर दिया, केवल लक्ष्मी प्राप्त की, भव भव के बन्धनों को तोड डाला, और सम्पूर्ण विश्व पर महान् उपकार किया। हे भगवन्! आप की जय हो, जय हो, ... जय हो।

श्री समरा दित्य को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ सुन कर राजा, सामंत, मंत्री आदि भी अतीव प्रमुदित हो उठे। अहो! भगवन् की अभिलाषा पूर्ण हुई।

इतने में नर नारियों का महा समुदाय आ पहुँचा। हर्षित हो सब वारम्वार वंदनादि करने लगे। फिर गीत नृत्य से महा प्रमोद उत्पन्न हुआ और केवल ज्ञान की महा महिमा गाई गई।

यह देख गिरसेन को भवचक्र में प्रथम वार शुभ भाव उत्पन्न हुआ। अहो! ये महान् हैं। मैंने इनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। यह सोचते ही उसके भव वंध मे शुभ बीज पड़ गए। वह वहां से चल दिया।

केवली भगवंत ने देशना प्रारम्भ की—

हे भव्य जावो ! अनादिकाल से यह जीव सुवर्ण और मिट्टी का तरह कर्म से युक्त है। अत. कर्मवश विचित्र विकार को पात है। भिन्न भिन्न योनि मे उत्पन्न होता है। जन्म, जरा, मरण, रोग, शोकादि द्वारा कदर्थना पाता है। अशुभ वेदना को असहाय हो सहता है। संयोग-वियोग से दु'खित होता है। मोह के वश होता है। सन्निपात से ग्रस्त मनुष्य की तरह हिताहित को न जानता हुआ अपथ्य का सेवन करता है और हितकारी पदार्थ का त्याग करता है। इसी कारण से दु ख की परम्परा को प्राप्त करता है।

अत' हे महानुभावो ! मूढता को छोड़ो, तत्त्व को पहचानो, गुरु-देव की उपासना करो, विधिवत् दान करो, दुष्टता का छोडो, मैत्री को धारण करो, शील को पालो, तपस्या का अभ्यास करो, शुभ भावना भाओ, कदाग्रह मत रखो, शुभ ध्यान, अनुष्ठान स्वाध्याय और उत्तम क्रिया द्वारा कर्म मैल का नाश करो।

हे देवानुप्रियों ! कर्ममल के नाश से सब उपद्रवों का नाश, होकर अनन्त शुभ स्वरुप मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यह सुन उपस्थित परिषदा वैराग्य से अधिवासित हुई और कहने लगी—आप जो फरमाते हैं, पूर्णत' सत्य है। प्रवचन सुनने बाद वंदन कर देवराज इन्द्रादि ने स्वस्थान को प्रस्थान किया।

महाराजा मुनिचन्द्र ने पूछा—भगवन् ! आप जैसे महापुरुष को उस पुरुषाधम ने उपसर्ग किस निमित्तवश किया ?

श्री समरादित्य केवली बोले—यह बहुत लम्बी बात है। मात्र मनुष्य भव की गिनती ही करें तो बीते नौंवे भव में इस गिरिसेन का जीव घोर तपस्वी अग्निशर्मा था और मेरा जीव गुणसेन था, ...आदि से लेकर अंतपर्यंत सारी कथा कह सुनाई। यह सुन वेलधर देव, राजामुनिचन्द्र, महारानी आदि अन्तःपुर वासी तथा सामंतादि वैराग्य पाये। अहो अज्ञान ! अहो वैर का छोटा सा बीज ! इतना तप ज्ञानवान करे तो अवश्य मुक्त हो जावे !

वेलंधर ने पूछा—भगवन् ! अब गिरिसेन का क्या होगा ?

भद्र ! आयु पूर्ण कर वह नरक में तीव्र वेदना सहेगा। और अनन्त संसार इसने उपार्जन किया है।

नर्मदा देवी, सुलसमंजरी तथा सुलोचनादि रानियों द्वारा नर्क आदि का स्वरूप पूछने पर केवली भगवंत ने जीव की असहाय दशा, क्षेत्रकृत, परमाधामी देवकृत आदि वेदना कही। जिसे सुन सब को संसार से अरुचि उत्पन्न हुई। राजा मुनिचन्द्र आदि दीक्षा की तैयारी करने नगर में गए। वेलंधर ने पूछा—

भगवन् ! अग्निशर्मा का जीव भव्य है या अभव्य ?

भद्र ! भव्य है।

प्रभु ! समकित पाया है उसने ?

नहीं, वत्स ! असंख्येय पुद्गल परावर्त काल बीत जाने पर शार्दूलसेन राजा का वह श्रेष्ठ घोडा बनेगा। तब समकित पाएगा। मुझे उसने अभी अभी अच्छा समझा है। "अहो ये हैं महान् मैंने इनके साथ अच्छा नहीं किया"। ऐसे क्षणिक शुभ चिंतन से भी उसके कर्मावरण में गुण के पक्षपात का बीज पड़ गया, जो परम्परा से सम्यक्त्व का कारण है। असंख्य भवों के बाद यह शंख नाम का ब्राह्मण बन मुक्त होगा।

यह सुन हर्षित हो वेलधर स्वस्थान चला गया।

राजा मुनिचन्द्र ने अपने पुत्र चन्द्रयश का राज्याभिषेक कर, अष्टाह्निक महोत्सव पूर्वक महादान दिया और शुभ दिन नर्मदा आदि रानियां, प्रधान, सामन्तों और श्रेष्ठि लोक सहित श्री समरादित्य भगवान् के प्रधान शिष्य श्री शीलचन्द्र के पास चारित्र अंगीकार किया।

अहो, इन्होंने मनुष्यत्व का फल प्राप्त कर लिया। हम अभागे हैं। इस प्रकार दीक्षितों की अनुमोदना और अपने भव की निंदा करते हुए देवगण चले गए।

श्री समरादित्य केवली जगत पर उपकार करते हुए विचरने

लगे।

गिरिसेन चोरी के आरोप में पकड़ा गया। वह कदर्थना पूर्वक मारा गया और घोर दुःखमय सातवीं नरक में उत्पन्न हुआ।

केवली भगवन्त अंत समय जान श्री ऋषभ तीर्थ में आए और शेषकर्मों का नाश कर रोग-शोक, जन्म, जरा मरणादि रहित निरुपद्रव ऐसे मोक्ष को पाए और अनंत सुख में लीन हो गए।

देवताओं ने उनके शरीर की पूजा की तथा उत्तम काष्ठ से अग्निदाह संस्कार किया। दाढ आदि अस्थियाँ देव लोक में ले गए, जहां सब देवों द्वारा उनकी पूजा की गई।

एक को वैर का फल अनन्त संसार और दूसरे को क्षमा का फल मुक्ति मिला। श्री समरादित्य चरित्र के इस अंतिम निष्कर्ष का सतत परिशीलन कर हमें सदैव क्षमादि गुण प्राप्त करने में ही उद्यम करना चाहिए।

"इति श्री समरादित्य चरित्र संपूर्णम्".

